मुक्ति संग्राम

वर्ष 1 • अंक 6 • फ़रवरी 2024 • मासिक • क़ीमत 10 रुपए • प्रकाशन स्थान – ज़िला लुधियाणा (पंजाब)

अयोध्या में राम मंदिर के निर्माण के बहाने सांप्रदायिक राजनीति

हुक्मरानों की 'फूट डालो और राज करो' की साज़िशों को पहचानो!

मेहनतकश जनता के बुनियादी माँग-मसलों के लिए एकजुट हो जाओ!

संपादकीय

बीती 22 जनवरी को भाजपा-आर.एस.एस. द्वारा अयोध्या में राम मंदिर का उद्घाटन किया गया। भले ही इस आयोजन को एक धार्मिक आयोजन के रूप में प्रचारित किया गया था और आम हिंदू आबादी के बड़े हिस्से ने इस दिन धार्मिक श्रद्धा के रूप में जश्न भी मनाया, लेकिन असल में इस उद्घाटन की तैयारियों से लेकर राम मूर्ति स्थापित करने की रस्में निभाने तक की सभी गतिविधियों में मोदी का चेहरा हिंदुओं के रक्षक और नायक के तौर पर पेश किया गया। संघ परिवार का उद्देश्य इस आयोजन के माध्यम से राम मंदिर को 'हिंदू राष्ट्र' के प्रतीक के रूप में स्थापित करना था और इसमें वे काफ़ी हद तक सफल भी रहा।

यह बात समझने की ज़रूरत है कि यह उद्घाटन कार्यक्रम कोई धार्मिक या आस्था कार्यक्रम नहीं था, बल्कि संघ-भाजपा द्वारा आगामी 2024 के लोकसभा चुनावों में सांप्रदायिक पालाबंदी करके फ़ायदा उठाने के लिए किया गया एक राजनीतिक कार्यक्रम था। इस कार्यक्रम से पहले लगभग पूरा एक महीना संघ-भाजपा और इससे जुड़े विभिन्न संगठनों, भाजपा पक्षीय मीडिया चैनलों ने मोदी को राम की घर वापसी करवाने वाले और हिंदुओं के नायक के रूप में पेश किया। इस दिन देश में अलग-अलग जगहों पर आर.एस.एस. के सांप्रदायिक गिरोहों द्वारा मुस्लिम समुदाय के दिलों में दहशत पैदा करने के लिए शोभा यात्राओं के दौरान मुस्लिमों की दुकानें तोड़ी गईं, मस्जिदों के सामने नारे लगाए गए और इस गुंडागर्दी का विरोध करने पर उल्टे मुसलमानों के ख़िलाफ़ ही मामले दर्ज किए गए। महाराष्ट्र में एकनाथ शिंदे की सरकार द्वारा मुस्लिमों की दुकानों पर बुलडोज़र चलाए गए।

बहुत से लोग इस भ्रम का शिकार हैं कि आयोध्या में राम मंदिर के निर्माण का मसला धार्मिक श्रद्धा का मसला है, मीडिया में भी इस मसले के ख़ूनी और सांप्रदायिक इतिहास पर कोई चर्चा नहीं की गई है। अयोध्या में राम मंदिर के निर्माण का मुद्दा शुरू से ही ख़ालिस सांप्रदायिक राजनीतिक मुद्दा रहा है। इस मुद्दे के ज़रिए हिंदुओं-मुस्लिमों में सांप्रदायिक फूट डालकर अब तक सैकड़ों निर्दोष लोगों का ख़ून बहाया जा चुका है। इसी ख़ून से आज संघ-भाजपा की सांप्रदायिक फ़ाशीवादी राजनीति की फ़सल लहलहा रही है। इसलिए यह ज़रूरी है कि इस पूरे मसले की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा की जाए, ताकि उस सांप्रदायिक राजनीति से भविष्य में सावधान हुआ जा सके, जिसके ज़रिए अब तक भारत में बड़े स्तर पर ख़ून-खराबा किया जा चुका है।

दिसंबर 1992 का दिन, जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े हुए भाजपा, विश्व हिंदू परिषद जैसे संगठनों के ऐलान और बाबरी मस्जिद को गिराने के लिए लाखों की भीड़ अयोध्या में इकट्ठा हुई। इसकी योजना बहुत पहले ही इन सांप्रदायिक संगठनों द्वारा बनाई जा चुकी थी। इसलिए भीड़, जिन्हें कारसेवक बताया गया, मस्जिद गिराने के लिए सभी साजो-सामान लेकर आई थी। लालकृष्ण अडवाणी से लेकर अन्य नेताओं ने भीड़ को भड़काऊ भाषणों से बाबरी मस्जिद तोड़ने के लिए उकसाया। दोपहर होते ही भीड़ पुलिस के बैरीकेड तोड़कर बाबरी मस्जिद में घुस गई। इस पर पुलिस ने कोई विरोध नहीं किया। भीड़ के मनों में मुस्लिमों के प्रति इतनी नफ़रत थी कि मस्जिद के गुबंदों पर चढ़ते समय लोग गिरकर अपने हाथ-पैर तुड़वा रहे थे, फिर भी उन्होंने चढ़ने की कोशिशें जारी रखीं और मस्जिद को तोड़ना शुरू कर दिया। चार-पाँच घंटों में शाम होने तक बाबरी मस्जिद को पूरी तरह तोड़ दिया गया। जिस जगह पर कुछ समय पहले ही मस्जिद खड़ी थी, शाम होते-होते वहाँ सिर्फ़ समतल ज़मीन थी। लोग मस्जिद की ईंटें तक भी अपने साथ घर ले गए। हज़ारों की संख्या में जो लोग अभी भी वहाँ मौजूद थे, उन्होंने वहाँ मंदिर बनाना शुरू कर दिया। रात-भर उन्होंने एक अस्थाई मंदिर बनाकर चारदीवारी भी बना दी। भारत में दंगे भड़क उठे और मुसलमानों का क़त्लेआम हुआ। 2000 से ज़्यादा लोगों ने इसमें अपनी जानें गँवाईं।

सुप्रीम कोर्ट का अल्पसंख्यकों पर अन्याय का ऐतिहासिक फ़ैसला

लोगों में सांप्रदायिक फूट डालने और राजनीतिक फ़ायदा लेने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेक संघ और इससे जुड़े संगठनों द्वारा किए गए इस कांड के लगभग 27 सालों बाद भारत की सर्वोच्य न्यायालय ने 'न्याय' किया है। कोर्ट ने न्याय देते हुए कहा कि इस बात के सबूत नहीं मिलते कि बाबरी मस्जिद की जगह कोई राम मंदिर होता था और बाबरी मस्जिद राम मंदिर को तोड़कर बनाई गई है। इसलिए 1992 का कृत्य अपराध है और हम आदेश देते हैं कि वहाँ राम मंदिर बना दिया जाए। है ना कमाल का न्याय!

तर्कशाश्त्र में सिखाया जाता है कि अगर क बराबर ख है और ख बराबर ग है, तो इसका मतलब है क बराबर ग। लेकिन सुप्रीम कोर्ट ने फ़ैसले में कहा है, नहीं! नहीं! क बराबर य है। भारत की सर्वोच्च अदालत ने राम मंदिर बनाने का फ़ैसला देकर, लंबे समय से चले आ रहे इस झगड़े पर अदालतों, प्रशासन, सरकारों आदि के रुख़ ने एक बार फिर इस बात की पुष्टि कर दी कि न्यायपालिका से लेकर लोकतंत्र का स्तंभ कहलाने वाली अन्य संस्थाएँ शोषणकारी शासक वर्ग की ही कठपुतलियाँ होती हैं और इन वर्गों के आदेशों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में पूरा पालन करती हैं। बाबरी मस्जिद के झगड़े में अदालतों के फ़ैसलों का विश्लेषण करने पर यह बात पूरी तरह साबित होती भी है।

बाबरी मस्जिद विवाद की पृष्ठभूमि

यह माना जाता है कि साल 1528 में बाबरी मस्जिद का निर्माण किया गया था। लेकिन यह तथ्य कहीं भी उजागर नहीं होता कि यह राम मंदिर तोड़कर बनाई गई। यहाँ तक कि सुप्रीम कोर्ट को भी मानना पड़ा है

(पन्ना 7 पर जारी)

इस अंक में

- अयोध्या में राम मंदिर के निर्माण के बहाने सांप्रदायिक राजनीति - हुक्मरानों की 'फूट डालो और राज करो' की साज़िशों को पहचानो! मेहनतकश जनता के बुनियादी माँग-मसलों के लिए एकजुट हो जाओ! 1
- भारत की तीन चौथाई आबादी अच्छी ख़ुराक से भी वंचित 2
- चंडीगढ़: जनता के दबाव के कारण आठ वर्षीय बच्ची का क़ातिल गिरफ़्तार 3
- आँगनवाड़ी केंद्रों के बुरे हालात 3
- मोदी सरकार द्वारा संसद में पारित तीन आपराधिक क़ानूनों से जनता को कितना ख़तरा है? 4
- आबादी: एक समस्या? 5
- धारा 295-ए और इसके तहत नाजायज़ पुलिस केस रद्द करवाने के लिए आवाज़ बुलंद 8
- कॉमरेड लेनिन की याद में कार्यक्रमों का आयोजन 8
- राजनीति को शिक्षा-शास्त्र के साथ ना गड़बड़ाया जाए – लेनिन 9
- अस्कद मुख़्तार का उपन्यास 'बहनें' 11
- पत्रकारिता का गला घोंटता दुनिया का सबसे बड़ा 'लोकतंत्र' 12
- अदाणी के मुनाफ़े बढ़ाने के लिए हसदेव जंगल की तबाही 13
- कैथे कोलवित्ज़ – जर्मनी की लोक कलाकार 14
- मज़दूरों को युद्ध में झोंकने पर आमादा भारत सरकार 42,000 मज़दूर इज़राइल भेजने के लिए इज़राइल हमलावरों से समझौता! 16
- धारा 295-ए क्यों रद्द होनी चाहिए? 16

मुक्ति संग्राम

दफ़्तर फ़ोन नं.– 83607-66937 **ईमेल –** muktisangram.hindi@gmail.com

सहयोग राशि – एक प्रति – 10 रुपए

सालाना – 120 रुपए (डाक के ज़रिए – 150 रुपए)

मुक्ति संग्राम के लिए सहयोग राशि नीचे दिए गए बैंक खाते/UPI के ज़रिए भेजें।

राशि भेजकर उपरोक्त फ़ोन नंबर पर सूचित ज़रूर कर दें।

UPI No. – 1851 1951 और 83607 66937

UPI ID MUKTISANGRAAM@SBI

Lakhwinder Singh

A/c No. – 5514 000 7508

STATE BANK OF INDIA

BRANCH – Khanna NGM

IFSC CODE – SBIN0050171

मुक्ति संग्राम यहाँ से प्राप्त करें

- **शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, #498, एल.आई.जी. फ़्लैट्स, जमालपुर कालोनी, लुधियाणा – 83607-66937**
- **मज़दूर पुस्तकालय, #4135, ई.डब्ल्यू.एस. कालोनी, ताजपुर रोड, लुधियाणा – 85910-90800**
- **जनचेतना, दुकान नं. 8, पंजाबी भवन, लुधियाणा – 70429-76396**
- **मानव, चंडीगढ़ – 98888-08188**
- **पावेल, सिरसा – 86078-89902**
- **मनन, शिमला – 98162-37848**

भारत की तीन चौथाई आबादी अच्छी ख़ुराक से भी वंचित

संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के मुताबिक़, साल 2021 के दौरान भारत की 74.1% आबादी यानी 100 करोड़ से ज़्यादा लोगों को अच्छे स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त भोजन भी नसीब नहीं होता। यानी हर चार में से तीन लोगों को पर्याप्त खाना नहीं मिल पाता। और इसमें से भी 16.6 प्रतिशत, लगभग 20 करोड़ लोग तो कुपोषण के शिकार हैं। इस रिपोर्ट में तुलनात्मक अध्ययन से यह पता चला कि इस मामले में भारत की स्थिति उसके पड़ोसी देश बांग्लादेश और ईरान से भी बदतर रही।

दूसरी ओर, मोदी और उसका संघ परिवार इस रिपोर्ट को ही नकारते हैं और उनकी गोद में बैठा मीडिया इस रिपोर्ट का हवाला तक देने वालों को दोषी ठहराते हुए कुपोषण के आँकड़ों को ग़लत साबित करने पर तुला हुआ है। लेकिन 2011 की जनगणना के आँकड़े ही सरकार के इन झूठे दावों की पोल खोल देते हैं, जिसके आधार पर ही सरकार ने ख़ुद यह माना था कि 81.3 करोड़ लोगों को खाद्य सुरक्षा की ज़रूरत है, जिसके तहत प्रति परिवार 5 किलो राशन की योजना शुरू की गई थी। हालाँकि, इसमें भी काफ़ी कमियाँ हैं जैसे दालें, तेल, सब्ज़ी, अंडा आदि ना दिया जाना, राशन कार्डों का बड़ी तादाद में काटा जाना और पहले से लोगों को मिलने वाले राशन में लगातार कटौती करना। असल में यह योजना तो लोगों से सब कुछ छीनकर उस पर पर्दा डालने का ही काम करती है।

भारत की कुल आबादी में 28% महिलाएँ हैं और 24% गर्भवती महिलाओं को दूध या अन्य डेयरी उत्पाद नहीं मिलते। सबसे निचली 20% ग़रीब आबादी में 47% महिलाओं और 44% गर्भवती महिलाओं की यह स्थिति है। 2021 के इन आँकड़ों के मुताबिक़ भारत में कुल महिला आबादी की 50% से ज़्यादा महिलाओं को अंडे, मांस, मछली, फल नसीब नहीं होते। 70% महिलाएँ विटामिन ए युक्त भोजन से वंचित हैं। पुरुषों में भी स्थिति कोई ज़्यादा बेहतर नहीं है, बस वहाँ यह आँकड़ा 42% के करीब है। प्रसिद्ध पत्रिका लासेट के अनुसार भी भारत की आबादी के एक बड़े हिस्से को उच्च गुणवत्ता वाले प्रोटीनयुक्त भोजन या फल नसीब नहीं होते। मोदी हुकूमत के दौरान ही 'अंतरराष्ट्रीय खाद्य नीति अनुसंधान संस्थान' की एक रिपोर्ट के अनुसार पर्याप्त पोषण ना मिलने के कारण भारत में 6 वर्ष से कम उम्र के 38.7 प्रतिशत बच्चों का सही विकास नहीं हो पाता।

लेकिन सभी फ़ाशीवादियों की तरह

(पन्ना 7 पर जारी)

मज़दूर साथियो,

मुक्ति संग्राम आपका अपना अख़बार है। आप अपने कारख़ाने, अपनी बस्ती में मज़दूरों-मेहनतकशों के हालातों के बारे लिखकर भेजिए। समाज में मज़दूरों-मेहनतकशों के साथ होने वाली बेइंसाफ़ी, लूट-शोषण-उत्पीड़न के और संघर्षों के अपने तजुर्बों के बारे में लिखकर भेजिए। आपको मुक्ति संग्राम में छपी सामग्री कैसी लगती है, आपको इसमें क्या कमियाँ-कमज़ोरियाँ नज़र आती हैं – बेझिझक लिखकर भेजिए। आपके सुझाव मुक्ति संग्राम को बेहतर बनाने के लिए बहुत ज़रूरी हैं।

– संपादक, मुक्ति संग्राम

ऑनलाइन 'मुक्ति संग्राम' पढ़ने के लिए नीचे दिए गए साइट और फ़ेसबुक पन्ने के लिंक पर जाएँ :

साइट – muktisangram.wordpress.com

फ़ेसबुक पन्ना – facebook.com/muktisangrammag

मुक्ति संग्राम के लेख-टिप्पणियाँ और अन्य साम्रगी अपने वट्सअप पर मगँवाने के लिए अपना वट्सअप नंबर और पता इस नंबर पर भेजें :

83607-66937

चंडीगढ़: जनता के दबाव के कारण आठ वर्षीय बच्ची का क़ातिल गिरफ़्तार

गुज़री 19 जनवरी को चंडीगढ़ की मज़दूर बस्ती हल्लोमाजरा में 8 साल की मासूम बच्ची के क़त्ल की घिनौनी घटना घटी। इस घटना के बाद इलाक़े की जनता में ज़बरदस्त रोष फैल गया। जनता के रोष और संगठित दबाव के चलते पुलिस को क़ातिल को पकड़ने की प्रक्रिया तेज़ करनी पड़ी और दोषी को चार दिनों के अंदर बिहार से गिरफ़्तार करके चंडीगढ़ लाया गया।

बच्ची की गुमशुदगी का पता लगते ही नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं द्वारा अन्य लोगों से मिलकर बच्ची की तलाश शुरू की गई थी। कई घंटे की तलाश के बाद बच्ची की लाश नज़दीक के बेहड़े के बंद कमरे में दबी मिली थी और तब तक दोषी भाग चुके थे।

मृत बच्ची की पोस्टमार्टम रिपोर्ट के बाद जब लाश को लाया गया, तो भावुक हुए लोग बड़ी गिनती में इकट्ठा हो गए। सैकड़ों की गिनती में इकट्ठा हुए लोगों में औरतों बड़ी गिनती में थी। लोगों द्वारा नौजवान भारत सभा के नेतृत्व में पुलिस प्रशासन के सामने तीन माँगें रखी गईं – दोषियों को गिरफ़्तार करके फ़ास्ट ट्रेक कोर्ट में मुक़द्दमा चलाया जाए और सख़्त से सख़्त सज़ा दिलाई जाए, पीड़ित परिवार को 10 लाख मुआवज़ा दिया जाए और इलाक़े में लोगों की सुरक्षा की गारंटी की जाए। जन-दबाव के कारण ही पुलिस द्वारा कार्रवाई की गई, आरोपी की गिरफ़्तारी हुई है।

असल में यह इस इलाक़े की पहली घटना नहीं थी। दो साल पहले भी 6 साल की मासूम बच्ची के साथ वहशी दरिंदों द्वारा

बलात्कार करके क़त्ल करने का मामला सामने आया था। उस समय भी नौजवान भारत सभा के नेतृत्व में आक्रोशित लोगों द्वारा चंडीगढ़-अंबाला सड़क जाम की गई थी, जिसके चलते पुलिस प्रशासन पर भारी दबाव बना और दोषियों पर कार्रवाई हुई थी।

घनी आबादी वाले इस इलाक़े में नशाखोरी और छोटी-मोटी छीना-झपटी की घटनाएँ होती रहती हैं। इलाक़े की जनता द्वारा कई बार पुलिस तक इन गुंडा तत्वों की शिकायत की गई है, लेकिन पार्कों, सुनसान नुक्कड़ों में शाम को सरेआम बैठने वाले ऐसे आपराधिक तत्वों के ख़िलाफ़ पुलिस प्रशासन द्वारा कोई कार्रवाई तक नहीं की जाती। इलाक़े के लोग बताते हैं कि तकरीबन दसेक साल पहले भी एक छोटी बच्ची के क़त्ल का मामला सामने आया था जिसकी ख़बर दबकर रह गई थी। लेकिन पिछली दो घटनाएँ और अन्य छोटी घटनाओं के समय नौजवान भारत सभा के नेतृत्व के कारण जनता का ग़ुस्सा प्रशासन को कार्रवाई करने के लिए मजबूर कर सका।

इस पूरे संघर्ष ने काफ़ी चीज़ें जनता के मनों में साफ़ की हैं। पहला कि यह जनता के दबाव के कारण ही था कि पुलिस प्रशासन को इतनी तेज़ी से कार्रवाई करनी पड़ी, नहीं तो अक्सर ऐसी घटनाओं में एफ़.आई.आर. तक दर्ज नहीं होती और मामले दबकर रह जाते हैं। या ऐसा भी होता है कि ऐसी घटनाओं को अंजाम देने वाले दोषियों पर छोटी-मोटी धाराएँ लगाकर उन्हें बचाने का काम किया जाता है, लेकिन मौजूदा मामले में जन-दबाव के कारण इस दोषी पर क़त्ल के अलावा सख़्त धाराएँ लगाई गई हैं।

दूसरा यह कि इस घटनाक्रम के दौरान 22 जनवरी को राम मंदिर के उद्घाटन का राजनीतिक प्रोग्राम भी आया। इसके लिए स्थानीय बीजेपी लीडर भी ख़ूब सक्रिय थे। रैलियाँ, पटाख़ेबाज़ी यहाँ तक कि मोटरसाइकिलों पर शोर-शराबा भी किया गया। लेकिन जनता के इन तथाकथित नेताओं को यह शर्म तो क्या आनी थी कि इलाक़े में हुई घिनौनी घटना के लिए ही अपने इस कार्यक्रम को रोक दें, बल्कि अगले दिन जनता द्वारा दोषियों के ख़िलाफ़ कार्यवाही करने के लिए रखे गए जुटान में भी इनमें से कोई ख़ुद को लीडर कहने वाला दिखाई नहीं दिया। तीसरा, पूरे मसले के दौरान जनता से हुई बातचीत में यही बात बार-बार उभरकर सामने आई कि जो पुलिस लॉकडाउन के समय गली-गली में जाकर जनता पर लाठियाँ बरसाती थी, वह पुलिस ऐसे आपराधिक तत्वों के ख़िलाफ़ अनेकों शिकायतों के बावजूद कोई कार्रवाई नहीं करती। जब ऐसी कोई दुखदाई घटना घटती है, तब ही और वह भी जन-दबाव के चलते ही पुलिस कुछ करती है। चौथा, जनता को अक्सर भीड़ कहकर निंदा करने वाले उनकी पहलकदमी की बात नहीं करते हैं। इस मामले में यह जनता की पीड़ित परिवार से सांझ-सरोकार और ख़ुद अपनी और इलाक़े की सुरक्षा के लिए फ़िक्र ही थी, जिसके चलते इतनी बड़ी गिनती में लोग बच्ची के लिए इंसाफ़ माँगने घरों से निकले। नौजवान भारत सभा द्वारा स्थानीय लोगों के सहयोग से इस मामले की आगे पैरवी करके उपरोक्त माँगों को पूरा कराकर दोषियों को सख़्त सज़ा निश्चित बनाई जाएगी।

आँगनवाड़ी केंद्रों के बुरे हालात

"हम नए साल की ख़ुशियाँ कैसे मना सकते हैं? जब कि सालों से हमारे बुनियादी अधिकारों की तरफ़ सरकारें कोई ध्यान नहीं दे रही हैं!" यह बात एक आँगनवाड़ी केंद्र में काम करने वाली महिला सेख रजिया ने कही है। पिछले लंबे समय से महाराष्ट्र की आँगनवाड़ी कर्मचारी वेतन बढ़ोतरी, स्वास्थ्य भोजन, बच्चों के बैठने के लिए साफ़ और सुरक्षित जगह के प्रबंध, सेवामुक्ति के बाद पेंशन, आदि जैसी बुनियादी माँगों के लिए संघर्ष कर रही हैं। इस संघर्ष के तहत बीती 3 जनवरी को महाराष्ट्र की करीब 8000 आँगनवाड़ी कर्मचारियों ने मुंबई के आज़ाद मैदान में अपनी माँगें लागू करवाने के लिए प्रदर्शन किया।

आँगनवाड़ी केंद्र भारत सरकार ने 2 अक्तूबर 1975 को गाँव के छोटे बच्चों और गर्भवती महिलाओं की देखभाल के लिए खोले थे। इन केंद्रों का ज़्यादातर काम गाँव में बच्चों को कुपोषण मुक्त बनाने के लिए अच्छा भोजन और शुरुआती शिक्षा प्रदान करना है। पर पिछले लंबे समय से इन आँगनवाड़ी केंद्रों के प्रति सरकार का रवैया ज़िम्मेदारी वाला नहीं रहा। नतीजतन इन संस्थाओं की इमारतों के लिए कोई फ़ंड जारी नहीं किए जा रहे और ना ही बच्चों तक कोई पौष्टिक भोजन पहुँच रहा है। गाँव और शहरों में खोले गए इन केंद्रों का किराया केवल 750 रुपए प्रति केंद्र है, जिसका भुगतान करने पर सरकार कोई ध्यान नहीं दे रही है।

एक आँगनवाड़ी कर्मचारी सरावनी मंगेस, मानखुर्द में केंद्र चला रही है। वे बताती हैं कि उन्हें आख़िरी बार नवंबर 2022 का किराया भेजा गया था और यहाँ जो राशन पहुँचता है, उसमें कंकर और कीड़े होते हैं, घटिया क़िस्म के मसाले भेजे जाते हैं, जो भोजन काला कर देते हैं।

कई जगह पर आँगनवाड़ी केंद्रों की कोई इमारत ही नहीं है। कर्मचारी अपने घरों या धार्मिक स्थानों के कोनों में बच्चों को बिठाकर ये संस्थाएँ चलाने के लिए मजबूर हैं। इन आँगनवाड़ी केंद्रों में बच्चों को मिलने वाले भोजन की क़ीमत 8 रुपए प्रति बच्चा है। ज़्यादातर केंद्रों में बिजली पानी की भी ज़रूरी व्यवस्था नहीं है। इन सब हालातों से अच्छी तरह जाना जा सकता है कि इस तरह बच्चों को कितना सेहतमंद बनाया जा सकता है। इस तरह आँगनवाड़ी चलाने के प्रति सरकार का रवैया हमारे सामने अच्छी तरह साफ़ हो जाता है।

वैसे तो हर गली-मुहल्ले के नुक्कड़ पर स्वास्थ्य सुविधाओं के बारे में सरकार द्वारा लगाए गए विज्ञापन हमें हमेशा नज़र आते रहते हैं, जिनमें बड़े-बड़े झूठे दावे और वादे किए जाते हैं। इस तरह की विज्ञापनबाजी के लिए करोड़ों रुपया बिना किसी चिंता के बहाया जाता है। पर जब हम ज़मीनी स्तर पर असलियत की तरफ़ देखते हैं, तो पता चलता है कि सरकार स्वास्थ्य सुविधाओं से जुड़े किसी भी सरकारी संस्थान को ज़रूरी फ़ंड जारी नहीं करती।

इन संस्थानों में काम करने वाली कर्मचारियों की ज़रूरतें पूरी करने की तरफ़

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

कोई ध्यान नहीं दिया जाता। अब अगर हम आँगनवाड़ी केंद्रों में काम करने वाली महिलाओं के हालातों की बात करें, तो वो भी बहुत बुरी हैं। इन केंद्रों में काम करने वाली ज़्यादातर महिलाएँ ग़रीब परिवारों से आती हैं, जो बहुत कम वेतन पर काम करने के लिए मजबूर हैं।

ऐसे ही हालात पंजाब में भी हैं। भगवंत मान सरकार लोगों से झूठे वायदे और दावे करते नहीं थकती। लेकिन पंजाब में भी आँगनवाड़ी केंद्रों और इनमें काम करने वाली कर्मचारियों की हालत बदतर है। यहाँ की आँगनवाड़ी कर्मचारियों का मासिक वेतन पिछले साल तक केवल 5500 रुपए ('आँगनवाड़ी वर्कर' का) और 3100 रुपए ('आँगनवाड़ी हेल्पर' का) था। जनवरी 2024 से इसमें बहुत मामूली-सी बढ़ौतरी करते हुए क्रमवार 6000 रुपए और 3350 रुपए किया गया है। सेवामुक्त कर्मचारियों को कोई भत्ता या पेंशन नहीं दिया जाता। एक संवेदनशील इंसान के लिए यह बहुत ही गंभीर विषय है कि आज की मँहगाई के समय में इतने कम वेतन और बिना पेंशन के ये महिलाएँ कैसे गुज़ारा करती होंगी। ऐसी समस्याएँ केवल इस विभाग की ही नहीं हैं, सारे सरकारी विभागों में ऐसे ही हालात हैं।

इन महिलाओं के सामने आज संघर्ष के बिना और कोई रास्ता नहीं है। सरकार आँगनवाड़ी कर्मचारियों को दबाने के लिए अपनी ताक़त इस्तेमाल कर रही है, तो ये जुझारू महिलाएँ भी अपने अधिकारों के लिए डटी हुई हैं। भारत में इस समय 13.87 लाख आँगनवाड़ी केंद्र हैं, जिनमें 12,93,448 'आँगनवाड़ी वर्कर' और 11,64,148 'आँगनवाड़ी हेल्पर' काम कर रहे हैं। इतनी बड़ी संख्या की संगठित ताक़त इस सरकार को ज़ोरदार चुनौती दे सकती हैं। ज़रूरत है कि ये महिलाएँ अपनी ताक़त पर भरोसा रखते हुए अपने अधिकारों की आवाज़ को बुलंद करती रहें। इंसाफ़पसंद लोगों को भी इनके संघर्ष का समर्थन करना चाहिए, ताकि इस लूट-शोषण के ख़िलाफ़ उनके संघर्ष को और ज़्यादा ताक़त मिले।

– परमिंदर

मोदी सरकार द्वारा संसद में पारित तीन आपराधिक क़ानूनों से जनता को कितना ख़तरा है?

भारत के ग्रहमंत्री अमित शाह द्वारा 20 दिसंबर 2023 को संसद में तीन आपराधिक क़ानून पेश किए गए। अमित शाह ने एक घंटे से ज़्यादा समय तक संसद में भाषण दिया और बताया कि कैसे ये क़ानून जनपक्षधर हैं और उन्होंने अंग्रेज़ों के ख़तरनाक क़ानून को बदल दिया है और उनकी सरकार नए भारतीय भावना वाले क़ानून लेकर आई है। इन क़ानूनों को पारित करने से पहले संसद में से विरोधी पक्ष के 150 संसद सदस्यों को निलंबित कर दिया गया था। अमित शाह के भाषण के बाद ये तीन क़ानून बिना किसी बहस के उसी दिन ही पारित हो गए और राष्ट्रपति ने भी क़ानून लागू करने की अनुमति दे दी है। मोदी भारत को 'मदर ऑफ़ डेमोक्रेसी' (जनवाद की माता) कहता है, लेकिन यह कहते हुए उसे ज़रा-सी भी शर्म नहीं आती। जिस संसद में क़ानून बिना किसी बहस के पास हो जाएँ और विरोधी पक्ष को बोलने ना दिया जाए, वहाँ कितना जनवाद है, हम अंदाज़ा लगा सकते हैं।

ख़ैर, अब हम क़ानूनों की ओर वापस आते हैं। नए तीन आपराधिक क़ानून आई.पी.सी. यानी इंडियन पीनल कोड (भारतीय दंड संहिता) 1860, जोकि जुर्मों की सज़ा तय करने वाला क़ानून था, उसकी जगह भारतीय न्याय संहिता लेगी। इसी तरह सी.आर.पी.सी. यानी क्रिमिनल प्रोसीज़र कोड (दंड प्रक्रिया संहिता) 1973 जो कि एफ़.आई.आर. से लेकर फ़ैसले तक की प्रक्रिया को बताता है, उसकी जगह भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता लेगी और इंडियन एविडेंस एक्ट (भारतीय साक्ष्य अधिनियम) 1872 की जगह भारतीय साक्ष्य अधिनियम लेगा। ये तीनों अपराधों संबंधी क़ानून हैं, जो आपराधिक प्रक्रिया तय करते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत के राज्यों ने इन क़ानूनों के हिंदी भाषा के नामों पर सख़्त ऐतराज़ किया है। बुनियादी तौर पर इन क़ानुनों में पिछले क़ानूनों का ही दोहराव हैं, लेकिन कुछ बड़े बदलाव किए गए हैं, जो हमारे पूरे क़ानूनी तंत्र को प्रभावित करेंगे।

सबसे पहले उस झूठ की बात करते हैं, जो अमित शाह ने बोला कि 'ये क़ानून जनपक्षधर हैं और अंग्रेज़ों द्वारा बनाए गए ख़तरनाक क़ानून को अब हटा दिया गया है और अंग्रेज़ सरकार द्वारा बनाए गए क़ानूनों से अधिक इंसाफ़ देने वाले हैं। अंग्रेज़ी हुकूमत ने अपना राज क़ायम रखने के लिए ऐसे क़ानून बनाए थे।' यहाँ यह बात समझने वाली है कि क़ानून अपने आप में कुछ नहीं होता। क़ानून बनाने के पीछे ख़ास राजनीतिक विचार और आर्थिक राज्य व्यवस्था, जैसे कि अब पूँजीवादी व्यवस्था है, काम करते हैं, जिनकी ज़रूरतें पूरी करने के लिए ख़ास क़िस्म के क़ानूनों की ज़रूरत होती है। फिर चाहे अंग्रेज़ हुकूमत हो या वर्तमान भाजपा सरकार, इन्होंने मौजूदा राज्यसत्ता को क़ायम रखने के लिए ही क़ानून बनाए हैं।

आइए, पहले बात करते हैं आई.पी.सी. के बारे में। आई.पी.सी. भारत का बुनियादी क़ानून है। अमित शाह ने कहा था कि हमने मौजूदा क़ानूनों में से सबसे ख़तरनाक राजद्रोह का क़ानून ख़त्म कर दिया। आई.पी.सी. की धारा 124 में राजद्रोह क़ानून था। जो कहता था कि कोई क़ानून द्वारा स्थापित सरकार के ख़िलाफ़ बोलकर, लिखकर, संकेतों द्वारा या और किसी भी माध्यम से भारत की सरकार के ख़िलाफ़ जनता के बीच ग़ुस्सा या असंतोष पैदा करेगा या करने की कोशिश करेगा, उस पर यह धारा लग सकती है। ख़ासतौर पर 2014 के बाद बड़े स्तर पर इस धारा का इस्तेमाल किया गया। जनता के जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष करने वालों पर यह राजद्रोह की धारा लगाई गई, जिसमें उम्रक़ैद तक की सज़ा का प्रावधान है। मोदी सरकार ने इस बात पर ज़ोर दिया कि उन्होंने अब अपने नए क़ानून (भारतीय न्याय संहिता) में यह धारा हटा दी है। लेकिन असल में 124 की राजद्रोह की जगह अब और भी ख़तरनाक धारा नए रूप में लाई गई है। इसमें पहले वाली धारा के ही शब्दों में कुछ नए शब्द जोड़ दिए गए हैं। भारतीय न्याय संहिता की धारा 152 में यह अब देशद्रोह के रूप में आई है। राजद्रोह और देशद्रोह में थोड़ा फ़र्क़ है। राजद्रोह सरकार के ख़िलाफ़ बोलने पर लगता है, जबकि देशद्रोह देश के ख़िलाफ़ बोलने पर लगता है। अब इसमें देशद्रोह और राजद्रोह को एक कर दिया गया है। धारा 152 में कहा गया है कि जो कोई बोलकर, लिखकर, चित्रों, वीडियो या कोई आर्थिक साधन या किसी भी और माध्यम द्वारा भारत की एकता, अखंडता, संप्रभुता को ख़तरा पैदा करेगा और जनता में कोई हथियारबंद संघर्ष या कोई अलगाववादी भावनाओं को बढ़ावा देगा, तो उस पर देशद्रोह लगेगा। यानी अब सरकार के ख़िलाफ़ बोलना भारत के अस्तित्व के लिए ख़तरा होगा और देशद्रोही होगा। अंग्रेज़ राज से यह क़ानून दस गुणा अधिक ख़तरनाक है। नए रूप में क़ानून अधिक घातक कर दिया है। इसी तरह ही नई भारतीय न्याय संहिता में धारा 113 लाई गई है, जोकि पहले वाले क़ानून में नहीं थी। धारा 113 आतंकवाद को प्रभाषित करती है। यह बहुत ख़तरनाक धारा है। असल में यह धारा यू.ए.पी.ए. क़ानून में से ली गई है। भारतीय न्याय संहिता की धारा 13 के अनुसार, जो देश की एकता, अखंडता के लिए ख़तरा पैदा करेगा या भारत सरकार या राज्य सरकार या सरकार की किसी एजंसी की संपत्ति का नुक़सान या भारत की किसी ज़रूरी सप्लाई सेवा में बाधा पैदा करेगा, वो व्यक्ति आतंकवादी गतिविधियों में शामिल माना जाएगा। आगे और, यह धारा कहती है कि जो कोई व्यक्ति भारत की संवैधानिक संस्था पर हमला या सरकार के आदेशों के तहत काम करने वाले अफ़सर को धमकियाँ देगा या उस पर कोई हमला करेगा या कोई संगठन किसी आतंकवादी कार्रवाई के लिए शिविर लगाएगा या कोई ट्रेनिंग देगा, उस पर यह धारा लगाई जाएगी, जिसमें उम्रक़ैद से लेकर मौत की सज़ा रखी है। स्पष्ट तौर पर देश की अखंडता, एकता के नाम पर सरकार किसी भी कार्रवाई को आतंकवादी कार्रवाई घोषित करके जेल में बंद कर सकती है। यह अपने आपमें बहुत ख़तरनाक क़ानून है, जो भारत के तथाकथित जनवाद का जीता-जागता सबूत है। इससे जनता पर ख़तरा बढ़ गया है। ख़ासतौर पर जनपक्षधर बुद्धिजीवी, जन-नेताओं और अन्य जनवादी कार्यकर्ताओं के लिए ख़तरा बहुत ज़्यादा बढ़ गया है। क्योंकि भारतीय न्याय संहिता भारत का बुनियादी क़ानून है। इस क़ानून में यू.ए.पी.ए. जैसे ख़तरनाक क़ानूनों का आना पुलिस की ताक़त में दोगुणा बढ़ौतरी करता है और ऐसे ख़तरनाक क़ानून आम प्रचलन में आते हैं।

दूसरी बात, यू.ए.पी.ए. क़ानून बहुत ख़तरनाक क़ानून है, जिसमें कोई अपील-दलील नहीं चलती। लेकिन इसमें आम जनता के लिए काग़ज़ी तौर पर दो सुरक्षा प्रावधान रखे गए थे, जो इस नए क़ानून में हटा दिए गए हैं। पहला प्रावधान उसमें यह था कि मुक़द्दमा दर्ज करने के लिए एस.पी. स्तर के अफ़सर से इजाज़त ली जाएगी, जो जाँच-पड़ताल करेगा। दूसरा प्रावधान था कि माहिरों की एक निष्पक्ष कमेटी पूरे केस की देख-रेख करेगी, जो उसे लगेगा केस बनता है, तो केस आगे चलेगा नहीं तो केस रद्द कर दिया जाएगा। ये दोनों प्रावधान काग़ज़ी थे। असल में एस.पी. और निष्पक्ष कमेटी सरकार के इशारे पर चलती है, लेकिन अब ये काग़ज़ी प्रावधान भी हटा दिए गए हैं। अब एक थानेदार भी इस धारा के

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

तहत मुक़द्दमा दर्ज कर सकता है। अमित शाह की न्याय संहिता में जनता के लिए कोई न्याय नहीं बल्कि अन्याय का शिखर है।

अब बात करते हैं दूसरे मुख्य क़ानून 'आपराधिक प्रोसीजर कोड 1973' की, जिसकी जगह अब 'भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता' लेगी। इस संहिता में जनता की सुरक्षा नहीं, बल्कि जनता पर और ज़्यादा डंडा चलाने के पुख्ता प्रबंध करने के लिए कई नए क़ानून लाए गए हैं। सबसे पहले 1898 में यह क़ानून बना। बाद में, 1973 में यह दोबारा लागू किया गया। अब फिर मोदी सरकार पहले वाले क़ानून की नई संहिता ला रही है। इस संहिता यानी क़ानून में पुलिस की ताक़तों में अथाह बढ़ौतरी की गई है। मौजूदा समय में जो पूँजीवादी व्यवस्था संकट की ओर बढ़ रही है, तो पूँजीवादी राज्यसत्ता को और ज़्यादा सख़्त क़ानूनों की ज़रूरत है, यानी क़ानून के राज की!!! पहले वाले क़ानून की जगह नए क़ानून में कई नई धाराएँ जोड़ी गई हैं, बाक़ी क़ानून पहले वाला ही है। लेकिन ये बड़े क़ानूनी बदलाव हैं। पहले वाले क़ानून में जब कोई व्यक्ति थाने में जाकर दर्ख़ास्त देता था, तो पुलिस द्वारा एफ़.आई.आर. दर्ज कर ली जाती थी और तफ़्तीश शुरू हो जाती थी। लेकिन अब वाले क़ानून के अनुसार ऐसा नहीं होगा। अब थाने में दर्ख़ास्त देने गए पीड़ित व्यक्ति की ही मुज़रिमों की तरह तफ़्तीश की जाएगी अगर उन्हें लगेगा कि केस दर्ज करना चाहिए, तो पुलिस केस दर्ज करेगी, नहीं तो पीड़ित की अर्ज़ी कूड़ेदान में फेंक दी जाएगी। नए भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता की धारा 173 के अनुसार पुलिस पीड़ित के दोषों के सच-झूठ को जानने के लिए पहले तफ़्तीश करेगी। यह तफ़्तीश चौदह दिनों में करनी होगी। उदाहरण के तौर पर कोई पीड़ित अपनी दर्ख़ास्त थाने लेकर जाता है कि किसी व्यक्ति ने उससे मारपीट की है, तो पुलिस केस दर्ज करने की बजाए दर्ख़ास्त देने वाले पीड़ित के इल्ज़ामों की जाँच करेगी। अगर सामने से कोई राजनीतिक प्रभाव वाला या कोई रसूखदार हुआ, तो पुलिस केस दर्ज नहीं करेगी, बल्कि रफ़ा-दफ़ा कर देगी। भारत में पहले ही मज़दूरों, दलितों, आदिवासियों, धार्मिक अल्पसंख्यकों और विभिन्न राष्ट्रीयताओं का दमन होता है। नए क़ानून के अनुसार जब इन पर कोई जुल्म होगा, तो पुलिस ने पीड़ित को ही दोषी बना देना है और कभी केस दर्ज नहीं करना। इस तरह से यह नागरिक सुरक्षा संहिता बची-खुची सुरक्षा भी छीन लेगी। इसी तरह इसमें पुलिस हिरासत के बारे में बढ़ौतरी की गई है। आमतौर पर रोज़ ही ख़बरें सामने आती रहती हैं कि पुलिस वालों ने निर्दोषों को थाने लाकर नाजायज़ तौर पर मारपीट की। पुलिस हिरासत में मौतें होती हैं। जनता के साथ अमानवीय व्यवहार तो आम ही है। नया क़ानून लागू होने से यह और भी ज़्यादा बढ़ जाएगा। पहले वाले क़ानून के अनुसार, जब किसी व्यक्ति को पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया, तो पुलिस गिरफ़्तार किए गए व्यक्ति को 15 दिन से अधिक थाने में या पुलिस हिरासत में नहीं रख सकती थी और चौबीस घंटों से अधिक पुलिस हिरासत के लिए नज़दीक के किसी मजिस्ट्रेट से इजाज़त की ज़रूरत पड़ती थी। अब वाले नए क़ानून में पुलिस हिरासत को नब्बे दिन कर दिया गया है, यानी अब नए क़ानून के अनुसार किसी भी गिरफ़्तार व्यक्ति को नब्बे दिनों तक हिरासत में रखा जा सकता है। यानी भाजपा सरकार ने हिरासत में दी जाने वाली यातनाओं को बढ़ावा दिया है। इससे पुलिस की ताक़तों में बेहिसाब बढ़ौतरी हुई है। यह पुलिस राज करने की कोशिश है।

आगे इस क़ानून की धारा 172 में प्रावधान किया है कि हर व्यक्ति पुलिस के आदेशों को मानने के लिए पाबंद है। अगर कोई पुलिस के आदेशों का उल्लंघन करता है, तो पुलिस उसे गिरफ़्तार करके चौबीस घंटों के लिए थाने में रख सकती है या उस पर कोई क़ानूनी कार्रवाई कर सकती है। पहले वाले क़ानून में पुलिस के आदेशों को मानने के लिए कोई पाबंदी नहीं थी। यानी जनता पर पुलिसिया राज लादा जा रहा है। जनता को मिले कई तरह के जनवादी अधिकार छीने जा रहे हैं। जब से केंद्र में भाजपा की सरकार आई है, हर रोज़ जनता पर नए-नए ख़तरनाक क़ानून थोपे जा रहे हैं। असल में भारत का संविधान जनता को बहुत सीमित हद तक जनवादी अधिकार देता है और जो अधिकार जनता को संविधान ने दिए हैं, उन पर भी कई तरह की बंदिशें हैं, इस तरह वो अधिकार सिर्फ़ नाम के ही रह जाते हैं। हमने शुरू में ही कहा था कि क़ानूनों का कोई ना कोई वर्गीय पहलू होता है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में क़ानून पूँजीपतियों की सेवा के लिए बनाए और बदले जाते हैं। चाहे कृषि क़ानून हो या फिर श्रम क़ानूनों में संशोधन करके नए लेबर कोड लाए गए हों, भारत में जन-विरोधी क़ानूनों की सूची लंबी है। 1947 के बाद कांग्रेस ने जन-विरोधी क़ानून पारित किए। उदाहरण के तौर पर यू.ए.पी.ए., टाडा, पोटा और एन.एस.ए. और अफ़सफ़ा जैसे काले क़ानून कांग्रेस लेकर आई और अब भाजपा सरकार ला रही है। इसी कड़ी में मोदी सरकार ये तीन आपराधिक क़ानून लाई है। जो पहले वाले क़ानूनों से अधिक जन-विरोधी और ख़तरनाक हैं। भारत में काले क़ानूनों की सूची लंबी है, जो भारत के तथाकथित जनवाद के परदे को तार-तार करती है और असलीयत जनता के सामने लाती है। मोदी सरकार द्वारा लाए गए ये काले क़ानून जनता और जनवादी आंदोलन के लिए बड़ा ख़तरा हैं। हमारे देश के सचेत लोगों को इन तीन काले क़ानूनों के बारे में आम जनता को बताना चाहिए और ऐसे काले क़ानूनों के ख़िलाफ़ सक्रिय आवाज़ बुलंद करनी चाहिए।

– कुलविंदर रोड़ी

आबादी: एक समस्या?

मनाली चक्रवर्ती

(आबादी को एक बड़ी समस्या के रूप में पेश किया जाता है। इसके बारे में मनाली चक्रवर्ती ने बहुत ही दिलचस्प लेख लिखा था जो 'वैकल्पिक आर्थिक सर्वे, 2009-2010' में छपा था। 'मुक्ति संग्राम' में छापने के लिहाज से लेख थोड़ा लंबा होने के चलते हम इसे दो किश्तों में प्रकाशित कर रहे हैं। यह पहली किश्त है।)

दोस्तों-परिचितों से गपशप करते हुए कितनी बार बात आबादी पर आकर रुकती है। यह हम सबका अनुभव है – पानी की समस्या, बिजली की समस्या, रोज़ी-रोटी की समस्या, ग़रीबी-बदहाली की समस्या, जरायम और तस्करी की समस्या, आदि-आदि, ले-देकर सारी समस्याओं की जड़ हमारी विशाल आबादी है। इस बात पर कमोबेश एक आम राय-सी बन जाती है। अगर आप भी इस तर्क से सहमत हैं, तो आप आश्वस्त रहिए आप बहुमत में हैं। और हों भी क्यों नहीं, मानव जाति की आबादी आज तकरीबन साढ़े छः अरब (बिलियन) है, जो कि मानव इतिहास में पहली बार हुआ है। हमारी अपनी देश की आबादी करीबन 110 करोड़ है, यानी हर छठा व्यक्ति भारतीय है। चारों तरफ़ जहाँ देखिए – सरकार से लेकर बुद्धिजीवी वर्ग, युवा पीढ़ी से लेकर वयोवृद्ध – इस "विकराल" समस्या से भीषण चिंतित हैं और उससे निपटने की फ़िक्र में जुटे हुए हैं। देशी-विदेशी ग़ैर-सरकारी और सरकारी संस्थाएँ इस समस्या से जूझने के लिए परियोजनाएँ बना रही हैं, अरबों-खरबों रुपए उड़ेल रही हैं। यू.एन.एफ़.पी.ए. (युनाइटेड नेशंस पॉपुलेशन फ़ंड) एक पूरा संस्थान है, जो 1967 से आबादी पर नियंत्रण के कार्यक्रमों में जुटा है। ज़ाहिर है उनकी सारी परियोजनाएँ तीसरी दुनिया के देशों पर केंद्रित हैं।

जानकारों में, कुछ तो नरमी से इन बच्चा-पैदा-करने-वाली-मशीनों से ग्रसित आबादी को प्यार-पुचकार की भाषा से समझाने में विश्वास रखते हैं। पर कुछ हस्तियों को डर है कि पानी सर से ऊपर चला गया है और अब प्यार-पुचकार की भाषा की विलासिता हम वहन नहीं कर सकते। अब तो इन नासमझों पर ज़बरन ही कुछ तौर-तरीक़ों का इस्तेमाल करना पड़ेगा, वरना यह धरती ही संकट में आ जाएगी। और हम यह देख रहे हैं कि बुद्धिजीवियों और पॉलिसी बनाने वाले अहम तबक़े में यह दूसरा तरीक़ा अपनाने वाले ज़ोर पकड़ते जा रहे हैं।

अब यह तो हम-आप भी मानेंगे कि इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने के बावजूद मानव समाज भीषण तंगी, बदहाली और ग़रीबी से जूझ रहा है। शहरों की गंदी बस्ती से लेकर गाँव तक, अफ़्रीका और एशिया से लेकर लातिनी अमेरिका तक, यहाँ तक कि कई विकसित देश भी बुनियादी समस्याओं से ग्रसित हैं। अभी हाल ही की एक रिपोर्ट के अनुसार, अमेरिका में भी 490 लाख लोग भूखे सोते हैं (न्यूयॉर्क टाइम्स, 18 नवंबर 2009)। तो क्या हम भी यह मान लें कि आबादी ही सकल समस्या की जड़ है? आइए, विस्तार से देखें।

आधुनिक इतिहास में, सुनियोजित तरीक़े से बढ़ती आबादी के ख़तरे पर प्रकाश डालने वालों में शायद सबसे पहले शख़्स हैं रेवरेंड थॉसम माल्थस। यह अंग्रेज़ पादरी अपने-आपको गणिज्ञत मानते थे और सामाजिक समस्याओं का गणितीय आधार खोजने में लगे रहते थे। अठारहवीं सदी के अंत में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति ज़ोर पकड़ रही थी। इसका प्रभाव व्यावसायिक समाज पर तो बहुत लाभदायक था, पर आम जनता की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। लोग भूख से बेहाल, मौसम से जूझने में नाकाम, मक्खियों की तरह मर रहे थे। शहरों का यह हाल था कि चारों तरफ़ गंदगी का मंज़र, एक-एक कमरे में 20-25 लोग ठुँसे रहने को विवश, तीन-चार साल के बच्चे भी फ़ैक्टरी और खदानों के दमघोंटू माहौल में काम करने के लिए मजबूर। आम बीमारी भी हर बार महामारी का रूप ले लेती। इस माहौल में हमारे रेवरेंड माल्थस ने यह हिसाब लगाया कि आबादी तो 2, 4, 8, 16, 32 की रफ़्तार से यानी ज्यामितीय प्रोग्रेशन में ही बढ़ सकती है। खाद्यान्न का उत्पादन महज़ 2, 4, 6, 8, 10 की रफ़्तार से

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

यानी ऑरिथमैटिक प्रोग्रेशन में ही बढ़ सकता है। इसके चलते जल्द ही आबादी इतनी बढ़ जाएगी कि धरती पर खाद्यान्न का संकट हो जाएगा। माल्थस साहब अपनी इस खोज से इतने आशंकित हो गए कि उन्होंने 1798 में एक किताब लिख डाली 'एन एस्से ऑन दि प्रिंसिपल ऑफ़ पॉपुलेशन।' उस किताब में उन्होंने इस "विकराल" समस्या के बारे में विस्तार से लिखा, यह भी भविष्यवाणी की कि साल 1890 में मानव आबादी समूचे खाद्यान्न उत्पादन को पार कर जाएगी। एक अच्छे शोधकर्ता की तर्ज पर उन्होंने इस भीषण संकट से उबरने का उपाय भी सुझाया। उपाय सीधा था: "अमीर तबक़े के हिस्से के पर्याप्त साधन बनाए रखने के लिए ग़रीबों को मारना होगा।" उन्हीं की किताब से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करती हूँ:

"आबादी को एक संतुलित मात्रा में बनाए रखने के लिए जितने बच्चे ज़रूरी हैं, उनके अतिरिक्त बच्चों को ज़रूरतन ख़त्म हो जाना होगा, नहीं तो वयस्कों को मारकर उनके लिए जगह बनानी पड़ेगी...। इसलिए हमें प्राकृतिक नियमों से मौत आसान करनी होगी, ना कि बेवक़ूफ़ीवश उसमें रोड़ा डालें, और अगर हमें बार-बार आने वाली भुखमरी से डर लगता है, तो हमें पक्की लगन से दूसरी विनाशकारी ताक़तों को बढ़ावा देना होगा, जो प्रकृति को मजबूरन अपनानी पड़ती हैं। हमें ग़रीबों को साफ़-सुथरा रखने की बजाय गंदगी की आदत डलवानी पड़ेगी। अपने शहरों में हमें और संकरी गलियाँ बनवानी पड़ेंगी और घरों में और ज़्यादा लोग ठूँसने पड़ेंगे, और हमें प्लेग-जैसी महामारियों को खुले हाथों से आमंत्रण देना होगा। गाँव की तरफ़ हमें पूरे-पूरे क़स्बे गंदे, सड़ते हुए तालाब, नाले के निकट बसाने होंगे और लोगों से आग्रह करना होगा कि वे अपने घर अधिक से अधिक अस्वास्थ्यकर परिवेश में बनाएँ।" (एन एस्से ऑन प्रिंसिपल ऑफ़ पॉपुलेशन, खंड 5, अध्याय 5)

माल्थस सबसे ज़्यादा नाराज़ डॉक्टरों से थे। उनका कहना था कि ये "भले, पर गुमराह लोग मानव जाति की भलाई के नाम पर उसका पूरी तरह विनाश करने पर तुले हैं।"

यह किताब बहुत लोकप्रिय रही, ख़ासकर अमीर तबक़े में। याद रखिएगा कि माल्थस और उनके प्रशंसक-समर्थक पिछड़े देशों की नहीं, बल्कि उस ज़माने के सबसे उन्नत, ताक़तवर और अमीर देश इंग्लैंड की बात कर रहे थे। उनके बाद इन सवा दो सौ सालों में कई बार इस विचार ने तूल पकड़ा। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में डार्विन और फिर उनके बाद उन्हीं के रिश्तेदार फ़्रांसिस गाल्टन ने इस विचार को वैज्ञानिक तर्क का जामा पहनाया। उनका मानना था कि ग़रीबों की बड़ी तादाद में बढ़ोत्तरी से मानव प्रजाति धीरे-धीरे मंदबुद्धि होती जा रही है (क्योंकि ग़रीब मंदबुद्धि होते हैं और उनकी संख्या ज़्यादा होने पर औसत बुद्धिमत्ता घट जाएगी) इस प्रक्रिया को रोकने के लिए गाल्टन साहब ने "युजैनिक्स" की पद्धति सुझाई। साधारण भाषा में इसका मतलब है – "अच्छी नस्ल का प्रजनन।" उनके बाद मार्गरेट सैंगर नाम की एक प्रसिद्ध समाजसेवी महिला ने "प्लांड पेरेंटहुड" की शुरुआत की – यानी योजनाबद्ध मातृत्व। उनका मानना था कि ग़रीबों की मदद करना मानवता के ख़िलाफ़ है और मानव-जाति को उसकी भारी क़ीमत चुकानी पड़ सकती है। सैंगर का मानना था कि ग़रीबों को बच्चे पैदा ही नहीं करने चाहिए और ज़रूरत पड़ने पर उनकी नसबंदी करवा देनी चाहिए। उनका कहना था कि जैसे सुंदर बग़ीचे बनाने के लिए खरपतवार उखाड़ फेंकना ज़रूरी है, वैसे ही गुणवत्ता बनाए रखने के लिए ग़रीब जनता को बच्चे पैदा करने से रोकना अनिवार्य है। उनका यह तर्क उस ज़माने के धनी लोगों को ख़ूब भाया, जैसे कि रॉकफ़ेलर, ड्यूक, लास्कर, डुपोंट आदि को। बींसवी शताब्दी के बीचो-बीच जर्मनों ने इसी को अमल में लाने का प्रयास किया। इसके चलते तकरीबन साठ लाख यहूदियों की हत्या कर दी गई। उसके बाद हर कुछ साल में यह आबादी को ज़बरन कम करनेवाला मुद्दा ज़ोर पकड़ता आया है। इमरजेंसी के दौरान इस देश में संजय गाँधी के नेतृत्व में जो अभियान छिड़ा था, उसकी यादें अभी भी विभीषिका बनकर हमें सताती हैं। पिछले कुछ सालों से यह विचार फिर ज़ोर-शोर से वापस आ रहा है। कइयों को कहते सुना जाता है कि "साहब, अब अच्छा लगे या बुरा, तरीक़ा तो वही है। अब सर्जन की छुरी के नीचे आना किसे भाता है, पर जब अंग सड़ जाए या फिर कैंसर हो, तो फिर उसके बिना चारा नहीं। अब चीन को ही देख लीजिए, कितना आगे निकल गया। उसका सख़्त 'एक-बच्चा-परिवार क़ानून' ही इसका मुख्य कारण है।"

इतने सारे ज्ञानी-गुणी सैकड़ों सालों से जो बात कह रहे हैं, तो चलिए थोड़ी देर के लिए मान ही लेते हैं कि बहुजन की भलाई के लिए कुछ लोगों को क़ुर्बानी देनी पड़ेगी। अब मन मारकर यह क़दम भी अगर उठाना पड़े, तो देखते हैं उसका असर क्या होगा! कितने लोगों के कम हो जाने से स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन नज़र आएगा – 10 प्रतिशत, 20 प्रतिशत, 30-40 या 50 प्रतिशत? चलिए, 20 प्रतिशत मानकर चलते हैं। आइए देखें, 20 प्रतिशत आबादी कम होने से क्या फ़र्क़ पड़ेगा। तालिका–1 में देखते हैं कि नीचे से 20 प्रतिशत आबादी कम करने से यानी 100 में सबसे ग़रीब 20 प्रतिशत लोग और ऊपर से सबसे अमीर 20 प्रतिशत लोग घटने से संसाधनों की उपलब्धता में कितना अंतर आएगा।

जैसा कि तालिका–1 से साफ़ ज़ाहिर है कि 20 प्रतिशत आबादी कम होने पर निश्चित तौर पर संसाधनों की उपलब्धि में अंतर आएगा, पर यह नीचे के 20 प्रतिशत ग़रीबों की बजाय ऊपर के 20 प्रतिशत अमीरों को हटाने से होगा। सकल निजी खपत पर ख़र्च का 86 प्रतिशत लोग उपभोग कर रहे हैं – अगर वे उसे कम करें, तो बाक़ी बचे लोगों को औसतन वर्तमान में उपलब्ध सामान से (जो 14 प्रतिशत है) छः गुना ज़्यादा मिल पाएगा। वैसे ही मांस-मछली दोगुना ज़्यादा मिलेगा, ऊर्जा करीबन दोगुना, वाहन छः गुना ज़्यादा आदि, आदि। तो फिर कर दी जाए यह नीति लागू? क्या संजय गांधी का समर्थन करने वाले, बड़े-बड़े विद्वान इस नीति पर अपनी मुहर लगाएँगे? या फिर ग़रीब बेचारों पर, जो अपनी बात किसी गोष्ठी में रख नहीं सकते, आसानी से लागू होने वाले नियम, अमीरों पर आते ही क्यों डाँवाडोल हो जाते हैं? आख़िर इन ग़रीबों का सफाया करने से कितना बचेगा? सौ में नीचे के बीस लोग कम होने पर महज़ 1 प्रतिशत, 1.5 प्रतिशत या ज़्यादा से ज़्यादा 4 प्रतिशत? हुआ ना हिसाब टेढ़ा?

आइए, मरने-मारने से थोड़ा हटकर ठंडे दिमाग़ से यह पता लगाएँ कि आख़िर हमारी धरती पर कितने संसाधन हैं और सही ढंग से वितरण करने पर हरेक के हिस्से कितना आता है। हम बुनियादी ज़रूरतों पर ग़ौर करते हैं। पहले, रहने की जगह को लें। अब आपके हिसाब से एक व्यक्ति को रहने के लिए कितनी जगह चाहिए? अब रहने को तो सुना है मुंबई-जैसे शहरों में एक 8 फ़ुट गुणा 8 फ़ुट के कमरे में 6-8 आदमी रह लेते हैं – हर दिन सामुदायिक शौचालयों में घंटों लाइन में लगना पड़ता है। गंदी बस्तियों में तो पोलिथिन के छप्परों के नीचे करोड़ों आदमी गुज़ारा करते हैं, जहाँ भारतीय रेल की पटरी शौच के लिए एकमात्र स्थल है। पर मैं इसकी बात नहीं कर रही हूँ, मैं तो यह अनुमान लगाने की कोशिश कर रही हूँ कि इंसान की तरह जीने के लिए; ठीक-ठीक सुविधा, आराम के लिए कितनी जगह की ज़रूरत है? अच्छा, दूसरी तरह से हिसाब लगाते हैं। अभी इस धरती पर जनसंख्या करीब 6.5 अरब (बिलियन) है। क्या आपको पता है कि अगर हम हर व्यक्ति को तकरीबन 1240 वर्ग फ़ीट जगह दें (आपकी जानकारी के लिए बता दें, शहरों में इतना क्षेत्रफल एचआईजी (हाई इनकम ग्रुप) फ़्लैट्स के होते हैं, यानी समाज के सबसे अमीर तबक़े के पास), तो इस हिसाब से धरती के सारे लोगों को बसाने के लिए कितनी जगह चाहिए? मैं बताती हूँ, हमारे देश के दो राज्यों महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के क्षेत्रफल (कुल 8,000 अरब वर्ग फ़ुट) जितनी जगह! अब थोड़ी और गणना करें। चूँकि अमूमन इंसान अकेला घर पर नहीं रहता, परिवार में रहता है, यह मान लें कि चार-चार व्यक्तियों का

(अगले पन्ने पर जारी)

तालिका–1

संसाधन	धरती की सम्पूर्ण आबादी के निचले 20 प्रतिशत में खपत (सबसे ग़रीब)	धरती की सम्पूर्ण आबादी के के ऊपरी 20 प्रतिशत में खपत (सबसे अमीर)
दुनिया के सकल निजी खपत में होनेवाले ख़र्चे में हिस्सेदारी	1.3%	86%
दुनिया के सकल मांस खपत में हिस्सेदारी	5%	45%
दुनिया के सकल ऊर्जा खपत में हिस्सेदारी	4%	58%
दुनिया के सकल टेलीफोन लाइंस इस्तेमाल में हिस्सेदारी	1.5%	74%
दुनिया के सकल वाहन इस्तेमाल में हिस्सेदारी	1%	87%

स्रोत: ह्युमन डेवलपमेंट रिपोर्ट 1998, ओवरव्यू, यूएनडीपी, 1995

(पिछले पन्ने से आगे)

परिवार है तो फिर उसी क्षेत्रफल में एक-एक परिवार को करीब 5,000 वर्ग फ़ीट जगह मिलेगी, यानी एक बड़ा घर सारी सुविधाओं समेत, सामने फूलों का बग़ीचा, पीछे सब्ज़ी की क्यारियाँ, शायद थोड़ी खेती भी, एकाध मवेशी बाँधने/चराने की जगह भी निकल आएगी। सोचिए, सारी दुनिया की आबादी महज़ दो राज्यों के बराबर क्षेत्रफल में समा सकती है। हालाँकि यहाँ यह मान लिया गया है कि वह सपाट ज़मीन होगी – नदी, नाला, टीला, पहाड़, जंगल, कुछ नहीं, पर फिर भी बाक़ी पूरी धरती ख़ाली! लगता है जगह की तो कोई कमी नहीं है।

आइए, अब खाद्यान्न पर चलते हैं – जिसके बारे में माल्थस से लेकर पीढ़ी-दर-पीढी चिंतित होती आई है। अभी हाल ही में साल 2007 में पूरी दुनिया में भीषण खाद्यान्न संकट आन पड़ा था। विशेषज्ञों का मानना है कि वर्तमान में दुनिया के करीब एक अरब लोग भूखे सोते हैं, यानी हर छठे या सातवें व्यक्ति को ज़रूरत से कम खाना मिल पाता है। यह वाक़ई गंभीर समस्या है। आइए, थोड़ी और गहराई से जाँच करें। खाद्य पदार्थ कई तरह के होते हैं, जैसे कि गल्ला, दालें, साग, सब्ज़ी, फल, बादाम, जड़े, मांस, मछली, आदि। मांस हमें उन जानवरों से मिलता है, जो या तो घास चरते हैं या फिर गल्ला खाते हैं। पर ग़ौर करने वाली बात यह है कि करीब एक किलो मुर्गी के मांस के उत्पादन के लिए दो किलो गल्ले की खपत होती है, इसी तरह एक किलो सुअर के मांस के लिए 3.5 किलो, भेड़ या बकरी के मांस के लिए 1.8 किलो (क्योंकि वह ज़्यादातर घास खाती है और तीसरी दुनिया के देशों में पलती है) और बड़े जानवरों के लिए 5 किलो गल्ले की खपत होती है। संपन्न देशों में ज़्यादा मांस खाया जाता है, बल्कि वहाँ मांस की खपत को संपन्नता का मानक माना जाता है। जैसा कि अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि मांस की खपत कम होने पर ज़्यादा गल्ला इंसानों के आहार के लिए उपलब्ध होगा। पर इन हिसाबों में अगर ना भी जाएँ, तो भी जितना गल्ला उपलब्ध होता है, उसे अगर पूरी दुनिया में सभी में बराबर बाँट दिया जाए, तो हर व्यक्ति के हिस्से (प्रतिदिन के हिसाब में) तकरीबन 3,000 से 4,000 कैलोरी सिर्फ़ गल्ला से आएगी। इसमें फल, सब्ज़ी, मांस, दूध, अंडा, मछली आदि को तो जोड़ा भी नहीं। अब आपको यह बता दें कि विशेषज्ञों के अनुसार, एक स्वस्थ वयस्क इंसान को दिन में तकरीबन 2,200 से 2,400 कैलोरी तक खाद्य की ज़रूरत होती है। यानी उपलब्ध गल्ले का महज़ आधा या दो-तिहाई। कोई व्यक्ति अगर उत्पादन को बराबर बाँटने पर जितना उपलब्ध (3,500 कैलोरी) हो उतना ही खा लें, तो जल्द ही उसे मोटापे की शिकायत हो जायेगी (वर्ल्ड हंगर: ट्वेल्व मिथ्स)। ग़ौर करने की बात है कि जहाँ दुनिया में एक अरब लोग आधे पेट खाकर सोते हैं, वहीं तकरीबन उतने ही लोग अधिक मोटापे (ओबेसिटी) की बीमारी से ग्रस्त हैं।

चलिए, यह बात तो साबित हुई कि ऊपरी तौर पर खाद्यान्न उत्पादन में कोई कमी नहीं है। पर पर्याप्त से कहीं ज़्यादा उपलब्ध होने के बावजूद दुनिया में इतनी भुखमरी क्यों है? ख़ैर, यह एक अलग सवाल है – बहुत ही प्रासंगिक, पर यहाँ उस पर बात करने की गुंजाइश नहीं है।

धारा 295-ए क्यों रद्द होनी चाहिए?

(पन्ना 16 से आगे)

होनी चाहिए और धर्म की जगह मुख्य तौर पर सांप्रदायिक राजनीति को निशाना बनाया जाना चाहिए। लेकिन अगर कोई भाषा की संजीदगी नहीं भी रखता, तो भी उसे 295-ए के तहत जेल में बंद करना बिल्कुल भी जायज़ नहीं है।

धर्म के नाम पर नफ़रत फैलाना, जनता को भड़काना, धार्मिक अल्पसंख्यकों को बेइज़्ज़त करना, उनके ख़िलाफ़ हिंसा करना यह सब संघ-भाजपा की सांप्रदायिक राजनीति के तहत हो रहा है। लेकिन इस अंधे-बहरे क़ानून की नज़र में यह कोई ज़ुर्म नहीं है, लेकिन इसका विरोध करना जुर्म घोषित किया जा रहा है। सार्वजनिक मंचों से मुसलमानों का क़त्लेआम करने, औरतों के साथ बलात्कार की बातें करने वाले और अल्पसंख्यकों के धार्मिक स्थानों को नुक़सान पहुँचाने वाले हिंदू कट्टरपंथियों के ख़िलाफ़ इस भगवा ब्रिगेड की हुकूमत में कभी भी धार्मिक भावनाएँ भड़काने का पर्चा दर्ज नहीं होता। 2014 में भाजपा के दिल्ली का तख़्त पर बैठने के बाद बहुत सारे पत्रकारों, बुद्धिजीवियों पर ऐसे पर्चे दर्ज किए गए हैं। इस तरह धारा 295-ए सांप्रदायिक राजनीति की सही आलोचना करने के जनवादी अधिकार को छीन रही है। इसके कारण इस धारा को ख़त्म करने और इसके तहत दर्ज किए गए सारे पुलिस केस रद्द करके गिरफ़्तार किए गए व्यक्तियों को रिहा करने की ज़ोरदार माँग की जानी चाहिए।

– गुरप्रीत

राजनीति को शिक्षा-शास्त्र

(पन्ना 9 से आगे)

ज़रूरत की दुहाई अगर कोई उच्चतर ज्ञान से संबंधित प्रश्नों को समाप्त करने के एक बहाने के रूप में दे, अगर कोई इस उच्चतर ज्ञान के; जो कि ककहरा सीखने वाले लोगों की तुलना में एक बहुत ही छोटे दायरे के लोगों को सुलभ है; अस्थाई, संशयपूर्ण और "संकुचित" परिणामों के मुक़ाबले में बुनियादी शिक्षा देने वाले स्कूल के स्थाई, गहन और ठोस परिणामों को कम दिखलाने की चेष्टा करें, तो वह बहुत ही भारी अदूरदर्शिता का परिचय देगा। इस प्रकार बड़े स्कूल के पूरे लक्ष्य को ही वह भ्रष्ट कर दे सकता है, क्योंकि उच्चतर शिक्षा की उपेक्षा कर वह केवल धूर्तवंचकों, अवसरवादी लफ़्फ़ाज़ों और प्रतिक्रियावादियों के लिए उन लोगों को गुमराह करने का ही रास्ता आसान बना देगा, जो सिर्फ़ ककहरा ही जानते हैं। या फिर, पार्टी की तुलना हम एक सेना से करें। शांतिकाल हो या युद्धकाल, रंगरूटों को प्रशिक्षित करने, उन्हें रायफ़ल की ड्रिल सिखाने, या सैन्य-विज्ञान के मूल तत्वों से आम जनता को अधिक-से-अधिक गहराई और व्यापकता से परिचित कराने के काम की उपेक्षा करने का दुस्साहस हम नहीं कर सकते। परंतु, अगर वे लोग जो सैन्य-व्यूह, और असल युद्धों का संचालन कर रहे हैं...*

संपूर्ण ग्रंथावली, खंड 8, पृष्ठ 452-55

जून 1905 में लिखा गया, सर्वप्रथम 1926 में लेनिन संग्रह के ग्रंथ 5 में प्रकाशित हुआ।

भारत की तीन चौथाई आबादी अच्छी ख़ुराक से भी वंचित

(पन्ना 2 से आगे)

भाजपा की भी यह विशेषता है कि वह घोर जनविरोधी नीतियों को भी जनपक्षधर नारों और जुमलों की चाशनी में लपेटकर पेश करती है, जिसमें पूरा संघ परिवार उसकी मदद करता है। मोदी सरकार का कहना है कि भारत जैसे बड़े देश के लिए एक मामूली नमूने के आधार पर एकत्र किए गए आँकड़ों का इस्तेमाल भारत में कुपोषित आबादी के अनुपात की गणना करने के लिए किया गया, जो कि ना केवल ग़लत और अनैतिक है, बल्कि यह स्पष्ट पक्षपात को भी दर्शाता है। मोदी लोगों को बताए कि उनका यह सिद्धांत तब कहाँ जाता है, जब किसी एक अकेले ग़रीब मुस्लिम व्यक्ति को पकड़कर उस पर गाय का मांस मिलने का झूठा आरोप लगाया जाता है और फिर इस अकेले व्यक्ति को आधार बनाकर पूरी मुस्लिम आबादी पर हमला बोलते हुए उसे बदनाम किया जाता है। नैतिकता और पक्षपाती विरोध की बात करने वाले इस मोदी और उसके संघ परिवार को तब साँप सूँघ जाता है। इसलिए इनके ऐसे बयानों का कोई महत्व नहीं है, जो केवल इनकी भक्तमंडली को संतुष्ट करने के लिए दिए जाते हैं।

हक़ीक़त तो यह है कि देश को विश्व गुरु बनाने के दावे करने वाले इसी मोदी के कार्यकाल के दौरान ही भारत भुखमरी सूचकांक में 125 देशों में से 111वें स्थान पर रहा है। इसलिए लोगों को संघ परिवार के झूठे प्रचार से बचना होगा और असलीयत को पहचानना होगा। लोगों की असल परेशानियाँ दिन-ब-दिन लगातार बढ़ती जा रही हैं। ज़्यादातर मेहनतकश जनता के लिए जीवनयापन हर रोज़ कठिन होता जा रहा है। ऐसे में मेहनतकश लोगों को वास्तविक परिस्थितियों की सही समझ बनाते हुए उन्हें बदलने की राह पर चलना होगा। ग़रीबी-भुखमरी को पैदा करने वाली इस पूरी भ्रष्ट व्यवस्था के ख़िलाफ़, इन लुटेरे शासकों के ख़िलाफ़, सभी मेहनतकशों को एकजुट होकर लड़ना और इस व्यवस्था को बदलने के रास्ते खोजने होंगे।

– अमन, संत नगर

अदाणी के मुनाफ़े बढ़ाने के लिए हसदेव जंगल की तबाही

(पन्ना 13 से आगे)

दौरान मोदी और राहुल गांधी दोनों यह जंगल बचाने और आदिवासियों के पक्ष में होने के झूठे जुमले छोड़ते हैं, पर दोनों ने अलग-अलग समय और ढंगों से अदाणी की ही सेवा की है। 2023 के चुनाव जीतने के बाद भाजपा ने छत्तीसगढ़ सरकार बनाते ही सबसे पहले अदाणी को इस क्षेत्र में कोयले की खुदाई का लाइसेंस दे दिया।

इस समूचे मामले से यह बिल्कुल दिन की तरह साफ़ हो जाता है कि कांग्रेस हो या भाजपा या कोई अन्य पूँजीवादी पार्टी, यह सब अपने असली मालिकों, अदाणी जैसे पूँजीपतियों की ही सेवा का काम करती हैं। अपनी ज़रूरतों के मुताबिक़ अलग-अलग समय पर इनमें से किसी को अपनी सेवा के लिए चुनती हैं। इनमें से कोई भी पार्टी लोगों को इंसाफ़ नहीं दे सकती। लोगों को सिर्फ़ अपने संघर्षों द्वारा ही हक़ लड़कर लेने पड़ते हैं। हसदेव अरंड के लोग भी इस बात को अच्छे से समझ गए हैं। भले ही पूरी राज्य सत्ता और मीडिया का बड़ा हिस्सा उनके विरुद्ध है लेकिन तब भी उन्होंने अदाणी जैसे परजीवियों के ख़िलाफ़ लड़ाई जारी रखी हुई है।

– गुरप्रीत, अमृतसर

धारा 295-ए और इसके तहत नाजायज़ पुलिस केस रद्द करवाने के लिए आवाज़ बुलंद

पंजाब पुलिस द्वारा पंजाब के अलग-अलग हिस्सों में जनवादी अधिकारों के लिए आवाज़ उठाने वाले कार्यकर्ताओं और आम नागरिकों पर धारा 295 और 295-ए के तहत पुलिस केस दर्ज करने के ख़िलाफ़ पूरे पंजाब में आवाज़ उठाई गई है। गुज़री 5 फ़रवरी को लुधियाणा में तीस से ज़्यादा जनसंगठनों, जनवादी अधिकार कार्यकर्ताओं, लेखकों, पत्रकारों आदि तबक़ों के मंचों की मीटिंग हुई, जिसमें इसके ख़िलाफ़ ज़ोरदार संघर्ष छेड़ने का ऐलान किया गया। 27 फ़रवरी को देश भगतसिंह यादगार हाल, जलंधर में संयुक्त रोष कन्वेंशन और प्रदर्शन किया जाएगा। कन्वेंशन से पहले संगठनों का एक प्रतिनिधिमंडल इस संबंध में पंजाब के मुख्यमंत्री से मुलाक़ात करेगा।

इससे पहले लुधियाणा में, 29 जनवरी को विभिन्न जनवादी और जनसंगठनों के प्रतिनिधिमंडल ने डी.सी. लुधियाणा के ज़रिए पंजाब सरकार को माँगपत्र भेजकर माँग की है कि धारा 295-ए रद्द की जाए, इनके तहत सुरजीत सिंह दौधर, भुपिंदर सिंह फ़ौजी, दविंदर राणा, इक़बाल धनौला, शायना समेत अन्य के ख़िलाफ़ इन धाराओं के तहत दर्ज केस तुरंत रद्द किए जाएँ, गिरफ़्तारियों पर तुरंत रोक लगाई जाए और गिरफ़्तार लोगों को तुरंत

रिहा किया जाए, लोगों को धर्म के नाम पर बाँटने-लड़ाने, नफ़रत भड़काने, झूठे केस दर्ज करवाने वाले, जनता को गुमराह करने वाले समाज विरोधी हिंदुत्ववादी कट्टरपंथियों के ख़िलाफ़ सख़्त से सख़्त क़ानूनी कार्रवाई की जाए। संगठनों ने चेतावनी दी है कि माँगें ना मानने पर संगठन सड़कों पर उतरेंगे।

प्रतिनिधिमंडल में तर्कशील सोसाइटी पंजाब के राज्य स्तरीय नेता बलबीर लोंगोवाल, जमहूरी अधिकार सभा के उपाध्यक्ष प्रो. ए.के. मलेरी, कारख़ाना मज़दूर यूनियन के अध्यक्ष लखविंदर, नौजवान भारत सभा से ऋषि, इंक़लाबी केंद्र पंजाब से हरप्रीत कौर, पलस मंच से कस्तूरी लाल, प्रगतिशील लेखक संघ के गुलजार सिंह पंधेर, आल इंडिया किसान फ़ेडरेशन से एडवोकेट कुलदीप सिंह, लोक मोर्चा पंजाब से डा. सुरजीत सिंह, डेमोक्रेटिक लायर्ज़ ऐसोसिएशन से एडवोकेट हरप्रीत सिंह जीरख, मोल्डर एंड स्टील वर्क्ज़ यूनियन से जी.एस. जोहरी, इंक़लाबी मज़दूर केंद्र से ललिता, ग़दरी शही बाबा भान सिंह ट्रस्ट से जगजीत सिंह, देश बचाओ मंच से प्रो. बलविंदर सिंह औलख समेत जनसंगठनों के अन्य अनेकों नेता और कार्यकर्ता शामिल थे।

प्रेस बयान जारी करते हुए नेताओं ने कहा कि झूठे पुलिस केस दर्ज करने की यह घटिया कार्रवाई पंजाब की आम आदमी पार्टी की सरकार के निर्देशों पर की गई है। पंजाब सरकार और पुलिस की यह सारी कार्रवाई पूरी तरह ग़ैरजनवादी है, विचार ज़ाहिर करने की आज़ादी पर हमला है, जनवादपसंद नेताओं, कार्यकर्ताओं, लेखकों, बुद्धिजीवियों, पत्रकारों और अन्य आम नागरिकों की जनवादी अधिकार की आवाज़ दबाने वाली, सांप्रदायिक ताक़तों की पीठ थपथपाने वाली है। समाज में वैज्ञानिक, जनवादी और सांप्रदायिकतावाद विरोधी विचारों का प्रचार करना हरेक नागरिक का फ़र्ज़ है और संवैधानिक अधिकार भी है। हिंदुत्वी फ़ाशीवादी ताक़तों द्वारा अपने घटिया सांप्रदायिक फ़ाशीवादी राजनीतिक मंसूबों के तहत धारा 295 और 295-ए का इस्तेमाल करके समाज को जागरुक करने वाले लोगों के ख़िलाफ़ झूठे केस दर्ज करवाए जा रहे हैं। ये ताक़तें अयोध्या राम मंदिर के बहाने योजनाबद्ध साज़िश के तहत देश समेत पंजाब में लगातार सांप्रदायिकतावादी नफ़रत का माहौल पैदा करने की कोशिश कर रही हैं, जिसे बिल्कुल भी बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। उन्होंने सभी इंसाफ़पसंद और जनवादपसंद लोगों को सांप्रदायिकतावादी ताक़तों की जनविरोधी साज़िशों का मुँहतोड़ जवाब देने के लिए आगे आने का आह्वान किया है।

कॉमरेड लेनिन की याद में कार्यक्रमों का आयोजन

21 जनवरी 2024 को विश्व मज़दूर वर्ग के महान नेता और शिक्षक कॉमरेड लेनिन की 100वीं बरसी थी। उनकी याद में मुक्ति संग्राम मज़दूर मंच और शहीद भगतसिंह स्टडी सर्किल द्वारा विचार-चर्चा कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। लुधियाणा में मुक्ति संग्राम मज़दूर मंच द्वारा मज़दूर पुस्तकालय में 'लेनिन स्मृति बैठक' का आयोजन किया गया, जिसमें पंजाबी मार्क्सवादी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के संपादक मुख्त वक्ता थे। शहीद भगतसिंह स्टडी सर्किल द्वारा चंडीगढ़, सिरसा, पटियाला और अमृतसर में कार्यक्रम किए गए, जिनमें नमिता, मानव (चंडीगढ़), छिंदरपाल, डॉ. सुखदेव (सिरसा), गुरप्रीत (अमृतसर), नवजोत (पटियाला) ने कॉमरेड लेनिन के जीवन और विचारों के बारे में बतौर मुख्य वक्ता बात रखी।

वक्ताओं ने कॉमरेड लेनिन के जीवन और विचारों के बारे में बताया कि उन्होंने अपना समूचा जीवन विश्व मज़दूर वर्ग की मुक्ति के आंदोलन को समर्पित किया। उन्होंने मज़दूर वर्ग की क्रांतिकारी विचारधारा मार्क्सवाद का ना केवल पूरी मेहनत और लगन से अध्ययन किया, इसे लागू किया, बल्कि इस पर होने वाले भीतरी और बाहरी हमलों के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हुए इसकी हिफ़ाज़त की और इसे आगे विकसित भी किया। उन्होंने मज़दूर वर्ग की पार्टी के संगठन और पूँजीवाद की सर्वोच्च अवस्था साम्राज्यवाद के बारे में सही सिद्धांत गढ़कर मार्क्सवाद में गुणात्मक बढ़ोतरी की। कॉमरेड लेनिन के सही नेतृत्व में ही रूस के मज़दूरों ने 1917 में महान समाजवादी क्रांति की थी। उन्होंने कहा कि कॉमरेड लेनिन के जीवन से प्रेरणा लिए बिना, उनके नक्शे-क़दमों पर चले बिना पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ आज मज़दूर वर्ग का कम्युनिस्ट आंदोलन आगे नहीं बढ़ सकता।

राजनीति को शिक्षा-शास्त्र के साथ ना गड़बड़ाया जाए

– व्ला. इ. लेनिन

ऐसे काफ़ी सामाजिक-जनवादी हैं जो हर बार, ज्यों ही पूँजीपतियों या सरकार के साथ किसी इक्की-दुक्की लड़ाई में मज़दूरों की हार हो जाती है, त्योंही निराशा के गर्त में डूब जाते हैं और, जनता पर हमारे प्रभाव की मात्रा की कमी की ओर संकेत करते हुए, मज़दूर आंदोलन के महान और उदात्त लक्ष्यों के उल्लेख पर भी नाक-मुँह सिकोड़ते हुए उन्हें रद्द कर देते हैं। वे कहते हैं कि इस तरह की चीज़ों के लिए कोशिश करने वाले हम कौन और क्या हैं? वे कहते हैं कि, जब आम लोगों के मनोभावों तक का पता हमें नहीं है, जबकि उनके साथ घुलने-मिलने में और मेहनतकश जनसमुदायों को जगाकर उठाने में हम असमर्थ हैं, तब इस तरह की बातें बघारना बिल्कुल बेकार है कि क्रांति में सामाजिक-जनवादी (कम्युनिस्ट – संपादक) हिरावल दस्ते की भूमिका अदा करेंगे। पिछले मई दिवस के अवसर पर सामाजिक-जनवादियों को जो पीछे हटना पड़ा था, उसकी वजह से यह भावना और भी अधिक तीव्र हो गई है।

स्वाभाविक ही है कि मेंशेविक, या नव इस्क्रावादी लोग इस स्थिति का फ़ायदा उठाते हुए इस अवसर का इस्तेमाल "जनता की तरफ़ चलो!" का विशेष नारा उठाने के लिए कर रहे हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस प्रकार वे अपनी दुर्भावना व्यक्त करना चाहते हैं और उन लोगों को उत्तर देना चाहते हैं, जिन्होंने अस्थाई सरकार के संदर्भ में क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व, आदि के विषय में कुछ सोचा और कहा है।

इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस व्याप्त निराशा में और उन नतीजों में, जो नए इस्क्रा के जल्दबाज़ प्रचारकों ने उससे निकाले हैं, एक बेहद ख़तरनाक चीज़ मौजूद है, जिससे सामाजिक-जनवादी आंदोलन को भारी नुक़सान पहुँच सकता है। इसमें संदेह नहीं कि आत्मालोचना हर ज़िंदा और प्राणवान पार्टी के लिए नितांत आवश्यक होती है। आत्म-तुष्ट आशावादिता से अधिक घृणित चीज़ कोई नहीं होती। जितनी इस चीज़ की आवश्यकता है, उतनी और किसी चीज़ की नहीं कि जन-समुदायों पर अपने प्रभाव को, अपने स्पष्ट मार्क्सवादी प्रचार और आंदोलन के कार्य को, मज़दूर वर्ग के आर्थिक संघर्षों के साथ अपने अधिकाधिक घनिष्ठ संबंध, आदि को गहरा और व्यापक बनाने, व्यापक और गहरा करने की ज़रूरत की ओर लगातार और लाज़िमी तौर पर ध्यान दिया जाए। इसके बावजूद चूँकि इस चीज़ की ओर ध्यान दिलाना सभी समय, सभी दशाओं और सभी परिस्थितियों में ज़रूरी होता है, इसलिए उसे विशेष नारों का रूप देने की ज़रूरत नहीं है, ना यही ठीक है कि उसके आधार पर सामाजिक-जनवाद के एक विशेष रुझान की स्थापना करने की कोशिशों को सही ठहराया जाए। इस संबंध में एक सीमा-सी निश्चित है। इस सीमा का अतिक्रमण करने का अर्थ निर्विवाद रूप से सही इस प्रयास को ग़लत रास्ते पर ले जाकर आंदोलन के उद्देश्यों और कार्य-क्षेत्र को संकुचित कर देना, उसे एक जड़ सूत्रवादी अंधेपन का रूप देकर आंदोलन के मूलभूत और प्रमुख राजनीतिक कार्यों को अनदेखा कर देना होगा।

जनता के बीच अपने काम तथा प्रभाव को प्रखर और व्यापक बनाना सदा ही हमारा कर्तव्य है। जो सामाजिक-जनवादी ऐसा नहीं करता वह सामाजिक-जनवादी है ही नहीं। ऐसी किसी भी ब्रांच (शाखा), दल, या मंडल को, जो इस लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए निरंतर और नियमित रूप से काम नहीं करता, सामाजिक-जनवादी नहीं माना जा सकता। मज़दूर वर्ग की एक विशिष्ट और स्वतंत्र पार्टी के रूप में बिल्कुल अलग अस्तित्व रखने में बहुत बड़ी हद तक पार्टी का उद्देश्य ही यह है कि जहाँ तक संभव हो, वहाँ तक पूरे मज़दूर वर्ग को सामाजिक-जनवादी समझदारी के स्तर तक ऊँचा उठाने के मार्क्सवादी कार्य को हमारे द्वारा निरंतर और अविचल रूप से किया जाए। राजनीतिक परिस्थितियों के किन्हीं भी परिवर्तनों को, किन्हीं भी राजनीतिक आँधियों को, इस ज़रूरी कार्य के मार्ग में हम आड़ा नहीं आने देते। इस कार्य के बिना राजनीतिक गतिविधियाँ लाज़िमी तौर पर भ्रष्ट होकर तीन-तिकड़म का (खेल का) रूप ले लेंगी, क्योंकि मज़दूर वर्ग के लिए ये गतिविधियाँ केवल तभी और उसी हद तक वास्तव में महत्वपूर्ण होती हैं, जब और जिस हद तक कि एक निश्चित वर्ग के जनसमुदायों को जगाकर वे खड़ा कर देती हैं, उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती हैं और घटनाओं के निर्माण में सक्रिय और प्रमुख रूप से भाग लेने के लिए उसे लामबंद करती हैं। जैसा कि हमने कहा, यह काम हमेशा ज़रूरी होता है। हर हार के बाद इस चीज़ की ओर हमें ख़ासतौर से ध्यान देना चाहिए और उस पर ज़ोर देना चाहिए – क्योंकि इस काम की कमज़ोरी हमेशा मज़दूर वर्ग की पराजय का एक कारण होती है। इसी प्रकार हर जीत के बाद भी इस काम की तरफ़ हमें लोगों का ध्यान दिलाना चाहिए, और इसके महत्व पर ज़ोर देना चाहिए – क्योंकि ऐसा ना करने से जीत सिर्फ़ एक दिखावटी जीत होगी, उस जीत के फलों का प्राप्त होना सुनिश्चित नहीं बनेगा, हमारे अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले महान संघर्ष के संदर्भ में उसका असल महत्व नगण्य होगा और, हो सकता है कि, वह एकदम ख़िलाफ़ ही हो (तब विशेष रूप से ऐसा ही होगा, जब किसी आंशिक जीत के कारण हमारी सतर्कता ढीली पड़ जाए, ग़ैर-भरोसे के मित्रों-सहयोगियों के संबंध में हमारा अविश्वास भाव घट जाए और दुश्मन पर दोबारा तथा और भी डटकर हमला करने के उचित क्षण को छोड़ने के लिए हम मजबूर हो जाएँ)।

लेकिन चूँकि जन-समुदायों के बीच अपने प्रभाव को गहरा और व्यापक बनाने का काम करना हमारे लिए हमेशा, हर जीत और हर हार के बाद, राजनीतिक शांति के समय और क्रांति के तूफ़ानी से तूफ़ानी दौरों में ज़रूरी है, इसलिए – यदि हम इस बात का जोखिम मोल नहीं लेना चाहते कि हम लफ़्फ़ाज़ी के दलदल में फँस जाएँ तथा उन्नत और एकमात्र सच्चे क्रांतिकारी वर्ग के लक्ष्यों को नीचे गिरा दें – तो इस काम पर ज़ोर देने की बात को हमें किसी विशेष नारे का रूप नहीं दे देना चाहिए, और ना उसे लेकर किसी विशेष प्रवृत्ति की ही सृष्टि करनी चाहिए। सामाजिक-जनवादी पार्टी की राजनीतिक गतिविधियों में शिक्षा-शास्त्र का एक तत्व रहता है, और हमेशा ही रहेगा। मज़दूरों के पूरे के पूरे वर्ग को मानवजाति को हर प्रकार के उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने वाले योद्धाओं की भूमिका अदा करने के लिए हमें शिक्षित करना चाहिए। हमें इस वर्ग के अधिकाधिक अंगों को लगातार सिखलाना चाहिए; हमें इस वर्ग के सबसे ज़्यादा पिछड़े, सबसे ज़्यादा अविकसित सदस्यों के पास तक, उन लोगों के पास तक पहुँचना सीखना चाहिए जो हमारे विज्ञान और जीवन-विज्ञान से सबसे कम प्रभावित हैं – जिससे कि हम उनके साथ बात कर सकें, उनके और नज़दीक पहुँच सकें और अपने सिद्धांत को कोई जड़ सूत्र बनाए बिना, उनकी चेतना को लगातार और धैर्यपूर्वक सामाजिक-जनवादी चेतना के स्तर तक ऊँचा उठा सकें। सर्वहारा वर्ग के इन पिछड़े और अविकसित स्तरों के लोगों को हमें केवल किताबों के ज़रिए ही नहीं, बल्कि जीवन के लिए चलने वाले दैनंदिन के संघर्ष में भाग लिवाकर सिखलाना चाहिए। हम फिर दोहराते हैं कि दैनंदिन की इस सक्रियता में शिक्षा का एक तत्व रहता है। जो सामाजिक-जनवादी इस काम को अनदेखा करेगा वह सामाजिक-जनवादी ही नहीं रह जाएगा। यह बात सही है। परंतु, हममें से कुछ लोग इन दिनों अक्सर इस बात को भूल जाते हैं कि वह सामाजिक-जनवादी जो राजनीतिक कार्यों को शिक्षा कार्य की ही परिधि में सीमित कर देगा वह भी, हालाँकि दूसरे ही कारण से, सामाजिक-जनवादी नहीं रह जाएगा; "शिक्षा" के इस "कार्य" को जो कोई भी एक विशेष नारे का रूप देने का, उसे "राजनीति" के मुक़ाबले में रखने का, उसकी बुनियाद पर एक विशेष प्रवृत्ति की सृष्टि करने का और इस नारे के अंतर्गत, सामाजिक-जनवाद के "राजनीतिज्ञों" के विरुद्ध जनता से अपील करने का विचार करेगा – वह तुरंत, और लाज़िमी तौर पर, नीचे गिरकर लफ़्फ़ाज़ी के स्तर पर पहुँच जाएगा।

तुलनाएँ अनुचित होती हैं – यह एक पुरानी स्वयंसिद्ध कहावत है। हर तुलना के समय जिन वस्तुओं या धारणाओं की तुलना की जाती है, उनके केवल एक या कुछ पहलुओं को ले लिया जाता है और उनके दूसरे पहलुओं को अस्थाई तौर से और अपवाद रूप में अलग छोड़ दिया जाता है। सामान्य रूप से ज्ञात किंतु बहुधा उपेक्षित पड़ी रहने वाली इस स्वयंसिद्ध सूक्ति की पाठक को याद दिलाते हुए हम आगे बढ़ें और सामाजिक-जनवादी पार्टी की एक ऐसे बड़े स्कूल के साथ तुलना करें जो एक ही साथ प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चस्तरीय है। इस बड़े स्कूल में ककहरा सिखलाने, ज्ञान के मूल-तत्व बताने और स्वतंत्र चिंतन की शिक्षा देने के कामों की कभी, किन्हीं भी परिस्थितियों में, उपेक्षा नहीं की जाएगी। किंतु, ककहरा सिखलाने की

(पन्ना 7 पर जारी)

भूल सुधार

जनवरी 2024 अंक में 'चिंगारी, जो ज्वाला बनेगी!' शीर्षक से छपे पुस्तक अंश के बारे में लिखा गया था कि यह ली.फ़ोतियेवा की पुस्तक 'लेनिन के जीवन के चंद पन्ने' का अंश है। असल में यह मरीया प्रिलेज़ायेवा की पुस्तक 'लेनिन कथा' का अंश है। इस भूल के लिए हमें खेद है।

अयोध्या में राम मंदिर के निर्माण के बहाने सांप्रदायिक राजनीति

(पन्ना 1 से आगे)

कि वहाँ राम मंदिर की मौजूदगी का कोई सबूत नहीं मिलता। डी.एन. झा समेत बहुत सारे इतिहासकार इस बात पर एकमत हैं कि ऐतिहासिक दस्तावेज़ों में कहीं भी अयोध्या में राम मंदिर की मौजूदगी होने का सबूत नहीं मिलता। लेकिन 7वीं सदी में अयोध्या में बहुत सारे बौद्ध मठ थे, इस बात की ज़्यादा संभावना है कि अयोध्या में मौजूद बहुत सारे पुराने मंदिर बौद्ध मठों को तोड़कर बनाए गए हों।

12वीं सदी से मुस्लिम सूफ़ियों के अयोध्या में प्रवास करने के प्रमाण मिलते हैं। लेकिन हिंदुओं के तीर्थस्थल के तौर पर अयोध्या में आने के सबूत नहीं मिलते। 16वीं सदी में बाबरी मस्जिद का निर्माण किए जाने के समकालीन तुलसीदास ने भी राम मंदिर 16वीं सदी में तोड़े जाने और राम के जन्मस्थान के अयोध्या में होने के बारे में कहीं बात नहीं की।

यहाँ तक कि 11वीं सदी में अवध के गढ़वाल राज्य के मंत्री ने 'किरितकल्पत्रु' नामक पुस्तक लिखी, जिसका एक हिस्सा तीर्थस्थलों के बारे में है। उसमें अयोध्या के हिंदुओं के तीर्थ स्थान होने का कहीं ज़िक्र नहीं आता।

राम मंदिर की बात कहाँ से आई?

दरअसल एक सोची-समझी साज़िश के तहत ब्रिटिश इतिहासकारों ने अयोध्या को राम के जन्मस्थान के रूप में प्रचारित करना शुरू कर दिया। इसके पीछे दक्षिण एशिया के क्षेत्र में 'फूट डालो और राज करो' की योजना के तहत सांप्रदायिकता के बीज बोकर, लोगों को एक होने से रोककर ब्रिटिश हुक्मरानों के लुटेरे राज्य को मज़बूत करना और राज्य का विस्तार करना मुख्य कारण था। सांप्रदायिक फूट डालने के लिए ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारत के इतिहास-काल को हिंदू राज्य, मुस्लिम राज्य और ब्रिटिश राज्य के रूप में बाँटा। लेकिन उन्होंने बड़ी चलाकी से ब्रिटिश राज्य को ईसाई राज्य नहीं कहा। ब्रिटिश शासकों के इन 'स्रोतों' के हवाले से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा यह प्रचारित किया जाता है कि मुस्लिम शासकों नें 30 हज़ार से अधिक मंदिर तोड़े। ऐतिहासिक रचनाओं के हवाले से इतिहासकार बताते हैं कि मध्यकाल में तोड़े गए मंदिरों की संख्या 80 से अधिक नहीं जाती। जिनमें से हिंदू राजाओं द्वारा भी मंदिर लूटे और तोड़े गए हैं। यहाँ तक कि मुसलमान राजाओं द्वारा मंदिर लूटने जाते हुए रास्तों में पड़ने वाली मस्जिदें भी लूटी गईं। मुगलों ने बहुत सारे मंदिरों के निर्माण के लिए मदद भी की। इन सभी घटनाओं के पीछे धर्म का कोई मसला भी नहीं था। यह ब्रिटिश शासक ही थे, जिन्होंने इस सबको सांप्रदायिक रंगत देनी शुरू कर दी। नतीजा यह निकला कि अयोध्या को राम की जन्मभूमि और फिर बाबरी मस्जिद को राम मंदिर को तोड़कर बनाए जाने की बात का प्रचार शुरू हुआ, जिसके सबूत ब्रिटिश इतिहासकारों के लेखन में मिलते हैं।

इस विवाद को बढ़ाने में समकालीन लुटेरे शासकों की भूमिका

ब्रिटिश शासकों द्वारा सांप्रदायिकता का ज़हर घोले जाने की कोशिशों में राम मंदिर का प्रोपेगंडा भी था। ब्रिटिश शासकों की कोशिशों से ही निर्मोही अखाड़े के हथियारबंद महंतों द्वारा साल 1853 में बाबरी मस्जिद पर क़ब्ज़ा कर लिया गया था। इसके विरोध में मुस्लिमों द्वारा भी बाबरी मस्जिद को निर्मोही अखाड़े से आज़ाद करवाने के लिए गोलबंदी शुरू कर दी गई और दो वर्षों तक हिंदू-मुस्लिम टकराव होते रहे। साल 1855 में इस मसले को सुलझाने की कोशिशें का दिखावा किया गया और बाबरी के बाहर की ओर एक चबूतरे, जिसे राम चबूतरे का नाम दिया गया, का निर्माण करवा दिया गया। इसके साथ ही बाहर की ओर हिंदुओं और अंदर मुस्लिमों को इबादत करने की इजाज़त मिलने पर यह झगड़ा सुलझने की बजाय पक्के तौर पर बने रहने की संभावना पक्की हो गई।

इसके बाद 1857 का विद्रोह हुआ, जो अंग्रेज़ों द्वारा घोले गए सांप्रदायिकता के ज़हर को साफ़ कर गया। 1857 के विद्रोह के बाद सांप्रदायिकता का ज़हर घोलने की ब्रिटिश शासकों द्वारा फिर से कोशिशें शुरू की गईं और कोई शोर-शराबा ना होने और शांतिपूर्ण तरीक़े से हो रही इबादत के बावजूद साल 1859 में बाबरी मस्जिद और राम चबूतरे के बीच तार लगाकर बाड़ कर दी गई। 19वीं सदी के अंत में जब सांप्रदायिकता फिर से अपना सिर उठा रही थी, तभी पहली बार साल 1883 में राम मंदिर बनाने की निर्मोही अखाड़े के महंत रघुवर दास द्वारा कोशिश की गई। साल 1885 में मामला ब्रिटिश अदालत में चला गया, लेकिन मसले का कोई हल निकालने की बजाय ब्रिटिश शासकों की अदालत ने हालत को 'यथास्थिति' बनाए रखने का फ़ैसला किया, ताकि सांप्रदायिकता का ज़हर घोला जा सके।

20वीं सदी की शुरुआत में जब सांप्रदायिकता के बोए ज़हर की फ़सल लहलहा रही थी, उस दौरान कई बार अयोध्या में भी हिंदू-मुस्लिमों का टकराव हुआ। साल 1912-13 में भी एक बड़ा टकराव हुआ। साल 1934 में ईद-उल-जुहा के दिन भी एक बड़ा टकराव हुआ, उस दिन हिंदुओं द्वारा मस्जिद के एक गुबंद को नुक़सान पहुँचाया गया।

साल 1947 में ब्रिटिश शासक भारतीय शासकों को राजसत्ता सौंप गए। भारतीय शासकों में राजसत्ता के साथ-साथ आम जनता पर राज करने के तरीक़ों की ब्रिटिश विरासत भी हाथो-हाथ ले ली, जिसमें सांप्रदायिकता के 'फूट डालो' हथियार भी शामिल थे। इसलिए भारतीय शासकों ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक और इससे जुड़े हुए हिंदुत्वी सांप्रदायिक संगठनों को खुली छूट दे दी। साल 1949 में गोरखपुर मठ के मुखी दिग्विजयनाथ (जोकि हिंदू महासभा से सबंध रखता था और जिसके बाद अवैद्यनाथ और फिर योगी आदित्यनाथ को गद्दी मिली। ये सभी जनसंघ और फिर भाजपा की टिकट पर चुनाव लड़ते रहे हैं) के नेतृत्व में बाबरी मस्जिद के पास 9 दिनों का रामायण पाठ शुरू किया गया और दावा किया गया कि भजन-कीर्तन के दौरान 'राम लला' प्रकट होंगे। रात के अँधेरे में 22 दिसंबर को राम और सीता की मूर्तियाँ बाबरी मस्जिद के अंदर रख दी गईं। जिसके बाद फिर से सांप्रदायिक माहौल पैदा हो गया और मौक़े के डीएम के.के. नायर को मूर्तियाँ बाहर निकालने के लिए कहा गया, लेकिन उसने साफ़ इंकार कर दिया। बाद में वह जनसंघ के टिकट पर लोकसभा चुनाव लड़कर जीता। मूर्तियों समेत मस्जिद को ताला लगा दिया गया, मुस्लिमों के दाख़िले पर रोक लगा दी गई और हिंदू पूजा करते रहे। अदालत ने 'यथास्थिति' बनाए रखने का हुक्म दिया, लेकिन मुस्लिमों का मस्जिद में दाख़िला बंद हो गया।

भारतीय शासक 1980 के दशक के समय जब संकट में फँसे हुए थे और नवउदारवादी नीतियाँ लागू करने का दौर था और केंद्र में राजीव गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस की सरकार थी, तब फिर से लोगों में फूट डालने के लिए, जानबूझकर यह मसला उठाने के लिए साल 1986 में अचानक बिना किसी कारण के फ़ैज़ाबाद के डीएम के.एम. पांडे ने हुक्म दिया कि मस्जिद में मूर्ति के दर्शन करने आने वाले भक्तों के सामने बाधा डालने वाले दरवाज़ों को खोल दिया जाए। डीएम ने हुक्म जारी करते हुए कहा कि इससे कोई आसमान नहीं गिरने वाला। मामला अदालत में गया तो अदालत ने फिर से यथास्थिति बनाए रखने का हुक्म दिया, लेकिन असल हालत में एक और बदलाव आ गया था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और इससे जुड़े भाजपा जैसे संगठनों ने मसले को हाथो-हाथ लिया। लालकृष्ण अडवाणी ने देश में सांप्रदायिक माहौल बनाने और राजनीतिक फ़ायदा उठाने के लिए साल 1990 में सोमनाथ से रथयात्रा निकाली और जहाँ-जहाँ से रथ गुज़रा, पीछे दंगे भड़काता गया और मुसलमानों-हिंदुओं की लाशें छोड़ता गया। साल 1992 में बाबरी मस्जिद तोड़ दी गई और महीने में अस्थाई मंदिर में दर्शन करने की इजाज़त भी दे दी गई। साल 2010 में इलाहाबाद हाई कोर्ट ने इस मसले पर फ़ैसला सुनाते हुए ज़मीन को तीन हिस्सों में बाँटते हुए दो हिस्से हिंदुओं और एक हिस्सा मुस्लिमों को दे दिया।

लुटेरे शासकों की इस मसले को बढ़ाने की घटिया साज़िशों और अदालतों के रुख़ से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले ब्रिटिश शासकों ने और फिर इनकी सांप्रदायिकता की विरासत को सँभालते हुए भारतीय शासकों ने इस मसले को लोगों में फूट डालने के लिए इस्तेमाल किया।

तर्कों को नज़रअंदाज़ करते हुए सुप्रीम कोर्ट का राम मंदिर बनाने का फ़ैसला

सुप्रीम कोर्ट ने बाबरी मस्जिद के मसले पर फ़ैसला करते हुए कहा कि संविधान की धारा 142 के तहत सुप्रीम कोर्ट के पास यह अधिकार है कि अगर देश में कहीं कुछ ग़लत हुआ है तो उसे सही कर दे। अयोध्या के लिए भी इसी अधिकार का इस्तेमाल किया गया है और यह कहते हुए कि अदालत किसी धार्मिक मान्यता या श्रद्धा के आधार पर फ़ैसला नहीं करती। लेकिन फ़ैसला तो श्रद्धा के आधार पर ही किया गया है! अब अगर सुप्रीम कोर्ट यह मानती है कि बाबरी मस्जिद राम मंदिर को तोड़कर बनाए जाने का कोई सबूत नहीं मिलता और ए.एस.आई. (भारत का पुरातत्व सर्वेक्षण) की रिपोर्ट भी यही कहती है कि खुदाई के दौरान ऐसा कुछ नहीं मिला जिसके आधार पर राम मंदिर तोड़े जाने की बात साबित होती हो और अदालत यह भी मानती है कि मस्जिद 465 सालों से मौजूद रही है और जो 1949, 1992 में हुआ, वो अपराध था। तो ये अपराध करने वालों के पक्ष में राम मंदिर बनाने का फ़ैसला देकर अदालत ने इतिहास में ऐसी कौन-सी ग़लती को ठीक किया है, इसका जवाब अदालत के पास नहीं है।

अदालत ने बड़ी चालाकी से (कु)तर्क करते हुए कहा कि इसका कोई सबूत नहीं मिलता कि साल 1528 से लेकर साल 1853 के बीच मुस्लिम इस मस्जिद का इस्तेमाल कर रहे थे। पहली बात तो यह है कि मुसलमानों

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

के अलावा कोई और मस्जिद का इस्तेमाल करता हो, इसका भी सबूत नहीं मिलता और दूसरी बात यह है कि इस कु(तर्क) का राम मंदिर बनाने के फ़ैसले को सही साबित करने से कोई लेना-देना नहीं है।

इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह फ़ैसला तर्कों को नज़रअंदाज़ करके सांप्रदायिक फ़ाशीवादी संघ-भाजपा के पक्ष में किया गया है, ताकि इस मुद्दे का वे और ज़्यादा फ़ायदा उठा सकें।

अंग्रेज़ों के भारत में आने से पहले भारत में सांप्रदायिक दंगों का कोई सबूत नहीं मिलता। इस क्षेत्र में बसने वाले विभिन्न धर्मों के लोग आपस में मिल-जुलकर रहते थे। एक-दूसरे के दुख-सुख और त्योहारों में शामिल होते थे। इतिहास, जिसकी ऊपर चर्चा की गई है, का भारत के मेहनतकशों के लिए यह सबक़ है कि कैसे पहले ब्रिटिश शासकों ने अपना लुटेरा राज क़ायम रखने के लिए भारत में सांप्रदायिकता का ज़हर फैलाया। बाद में भारत के लुटेरे शासकों ने किस तरह अंग्रेज़ों की 'फूट डालो और राज करो' के हथियार को भारत के मज़दूर-मेहनतकशों की एकता में फूट डालने के लिए इस्तेमाल किया और उन्हें आपस में लड़ाया।

जहाँ तक धार्मिक भावनाओं या आस्था की बात है तो यह हर किसी का जनवादी अधिकार है कि वह किसी भी धर्म को माने या ना माने और अपनी आस्था-मान्यता के अनुसार अमल करे, लेकिन साथ ही यह अमल किसी और की आस्था को कुचलकर नहीं होना चाहिए। सबसे ज़रूरी इसमें सत्ता का कोई दख़ल नहीं होना चाहिए और राजनीति को धर्म से अलग करना चाहिए। धर्म का मामला शुद्ध रूप में व्यक्तिगत मामला है।

आज भारत के इजारेदार पूँजीपति वर्ग और साम्राज्यवादी पूँजीपतियों की सेवा कर रहीं संघ-भाजपा की सांप्रदायिक फ़ाशीवादी शक्तियाँ हिंदू और मुस्लिम आबादी में सांप्रदायिक फूट डालने में काफ़ी हद तक सफल भी हो रही हैं और सत्ता का सुख ले रही हैं। अपने हिंदू राष्ट्र के एजेंडे को लागू करते हुए संघ द्वारा भारत में बसने वाले धार्मिक अल्पसंख्यकों ख़ासकर मुस्लिम भाईचारे में दहशत पैदा करके उन्हें दोयम दर्जे के नागरिकों के तौर पर जीने के लिए मज़बूर कर दिया गया है। संघ-भाजपा के हिंदू राष्ट्र के सांप्रदायिक फ़ाशीवादी प्रोज़ेक्ट का उद्देश्य एक तरफ़ अमीरों के मुनाफ़े बढ़ाने के लिए मज़दूर-मेहनतकश आबादी की बेहताशा लूट करना है और दूसरी ओर इस लूट के ख़िलाफ़ उठने वाली हर आवाज़ को लाठी के दम पर दबाना और मेहनतकशों की एकता में सांप्रदायिक फूट डालना है। इसलिए लाज़िमी तौर पर हम हुक्मरानों की 'फूट डालो और राज करो' की सांप्रदायिक साज़िशों को पहचानें और अपने बुनियादी माँग-मसलों के लिए एकजुट हों।

अस्कद मुख़्तार का उपन्यास 'बहनें'

अस्कद मुख़्तार का जन्म 23 दिसंबर 1920 को उज़्बेकिस्तान के फ़रग़ना में हुआ। अस्कद मुख़्तार ने अपनी कविताओं, कहानियों और उपन्यासों के ज़रिए लोगों के हितों की नुमाइंदगी की। उन्होंने उज़्बेकिस्तान के लोगों पर सोवियत सत्ता ने जो प्रभाव डाला, उसे अपनी क़लम के ज़रिए सूत्रबद्ध किया।

1917 की रूसी क्रांति ने पूर्वी उज़्बेक लोगों के जीवन को कैसे नया आयाम दिया, इसी का उल्लेख उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'बहनें' में किया गया है। 'बहनें' उपन्यास 1950 के दशक में प्रकाशित हुआ था। जैसा कि नाम से ही पता चलता है कि यह रचना औरतों के बारे में है। लेकिन यह सिर्फ़ सगी बहनों की कहानी नहीं है। पाठक किसी ग़लतफ़हमी में ना रहें, यह उपन्यास उन मज़दूर औरतों के बारे में है, जिनका जीवन आपस में जुड़ा हुआ है, जिनके हित लूट और जुल्म के ख़िलाफ़ लड़ाई में एक हैं।

यह रचना सदियों से उत्पीड़ित, दुख भरे जीवन का संताप झेल रहीं, पितृसत्ता के बोझ से दबी हुई औरतों की बात करता है। यह उपन्यास केवल औरतों की पीड़ा की बात नहीं करता, बल्कि यह उपन्यास पीड़ा से मुक्ति की, पिछड़ेपन से मुक्ति की, नई चेतना से लैस सोवियत उज़्बेक बहनों की कहानी है।

कॉमरेड लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी ने रूस में मज़दूरों की सोवियत सत्ता स्थापित की। ज़ारशाही को उखाड़ फेंकना, पिछड़ेपन के विरुद्ध युद्ध, नए देश का निर्माण, औद्योगीकरण, समाजवादी युग के नए मनुष्य का निर्माण, सभी प्रकार के शोषण और जुल्म को समाप्त करना, ऐसे अनेक काम हुए। ऐसे ही उथल-पुथल भरे वर्षों में से जब देश गुज़र रहा था और ज़मीनी स्तर पर लोगों के जीवन को बदल रहा था, उसी का बहुत ख़ूबसूरत ढंग से उपन्यास 'बहनें' वर्णन करता है।

यह उपन्यास उज़्बेकिस्तान के 'नायमांचा' क्षेत्र पर केंद्रित है, जो पुराने शहर का बाहरी इलाक़ा था, जो जुलाहों की धरती थी। 'नायमांचा' में जुलाहे लंबे समय से रह रहे हैं। औरतें सूत कातती, पुरुष उसे बुनकर कपड़ा बनाते हैं। बेटे को पिता से विरासत में हथखड्डी मिलती है, 'नायमांचा' के बच्चे जब बोलना सीखते हैं, तो अम्मी या अब्बा की बजाए नलियाँ, फिरकियाँ शब्द पहले सीखते।

नायमांचा जहाँ ग़रीबी और अभाव का बोलबाला था, यहाँ सात पीढ़ियों से कपड़ा बुनने वाला जुलाहा भी तन ढँकने के लिए कपड़े का छोटा-सा टुकड़ा मुश्किल से जुटाता था। यहाँ के लोग बचपन से ही गंदे और पुराने ऊन को लाठियों से पीटना शुरू करते और चालीस साल की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते तपेदिक से छलनी हुए फेफड़ों से पीड़ित होकर मर जाते। घरों की छतें, पेड़, कच्ची दीवारें, लोगों के चेहरे, कपड़े हमेशा गंदगी से भरे रहते थे। ऐसे उदास, शोक में डूबे नायमांचा के हालात बदलने के लिए साधारण औरतों का योगदान, ख़ुद उन साधारण औरतों का जीवन जो विधवा हो चुकी हैं, औरतें जो व्यापारियों की लूट और पुरुषों की ग़ुलामी की शिकार हैं, का योगदान अमूल्य रहा है। उपन्यास में उस प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। इस बदलाव के लिए कम्युनिस्ट कितनी मेहनत करते हैं, जागरूक हो चुकी औरतें घर की चारदीवारी छोड़कर ख़ुद की और दूसरी बहनों की ज़िंदगी कैसे बदलती हैं, इसे बहुत ही सरल और दिलचस्प तरीक़े से पेश किया गया है।

सूदखोर क़ुदरत-उल्ला जुलाहों को क़र्ज़ के जाल में फँसाता है और उनकी मेहनत को निचोड़ लेता है। दिन-रात एक करके कपड़ा तैयार करते जुलाहे उसका क़र्ज़ उतारते-उतारते मर जाते। पिता पुत्र को उत्तराधिकार में हथखड्डी और क़र्ज़ देकर जाता था।

औरतों में, साबिर की विधवा अनाखोन, उसकी दो बेटियाँ बशारत और तुर्सुनोई, कॉमरेड जुराखोन, सोफ़िया, खोज़िया इस उपन्यास के मुख्य पात्र बनकर उभरती हैं।

कॉमरेड येफ़िम डेनिलोविच और उसकी पत्नी सोफ़िया हमेशा के लिए नायमांचा के हो जाते हैं। कॉमरेड येफ़िम डेनिलोविच आयोजक, शुरुआती चरण में पुरुषों तक समाजवादी विचारों को लेकर जाने के लिए, रूस से आते हैं, जो ख़ुद एक रेलवे कारख़ाने में काम करते हैं।

अनाखोन के पति साबिर को कम्युनिस्ट बनाने में येफ़िम की अहम भूमिका रहती है। साबिर जुलाहे का काम छोड़कर, रेलवे वर्कशॉप में मज़दूरी करता है, जहाँ उसकी मुलाक़ात कम्युनिस्टों से होती है। साथी येफ़िम के कारण ही अनाखोन को पता चलता है कि कॉमरेड कौन होते हैं।

नायमांचा में महिला क्लब बनाना, महिला सहकारिता समिति बनाना, बच्चों के क्रैच बनाने से लेकर मिल के निर्माण का काम कॉमरेड जुराखोन, अनाखोन, सोफ़िया के नेतृत्व में साधारण औरतें करती हैं। वे औरतें जिन्होंने अपने जीवन में कभी यात्रा नहीं की थी। जिन्होंने कभी शहर नहीं देखा था, जो कभी सड़क पर उघड़ा चेहरा लेकर नहीं चली थीं। उन साधारण औरतों ने मिलें बनाईं, सहकारिता समितियाँ बनाईं, भाषण दिए, पिछड़े रीति-रिवाजों को तोड़ा, नया जीवन जीया, एकता की महान शक्ति को पहचाना, पढ़ना-लिखना सीखा, अपने निर्णय ख़ुद लेना सीखा।

महिला क्लब की बैठक में, जहाँ औरतों को सहकारी समिति का सदस्य बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, औरतें पहली बार देखती हैं कि कॉमरेड जुराखोन 'उस्ताद नईमी', जो एक गड़बड़ फैलाने वाला व्यक्ति होता है, को सबके सामने डाँटती है तो औरतों ने पहली बार देखा कि 'उनके जैसी' एक महिला एक मर्द को खुलेआम डाँट रही थी और इससे उसके सिर पर आसमान नहीं गिर गया, न ही उस आदमी ने उसे जान से मार डाला था।

औरतें जो पिछड़ी सोच में गहरी डूबी हुई थीं, सहकारी समिति के ख़िलाफ़, जुराखोन के ख़िलाफ़, अनाखोन के ख़िलाफ़ अफ़वाहों में आ जाती थीं। उन्हें सोचने पर मजबूर करना, पाखंडी "सियानी" औरत के प्रभाव से निकलने के लिए अनाखोन पूरा ज़ोर लगाती है।

अनाखोन, जो पहले बोलने में झिझकती है, डरती है, सहकारी समिति की अध्यक्ष बन जाती है, अपना परांजा (घोड़े के बालों का बुर्का) उतार फेंकती है, बहादुर बन जाती है, अन्य औरतों की समस्याओं को हल करती है, कम्युनिस्ट बन जाती है। कॉमरेड सोफ़िया कहती है, "तुम इतनी बदल गई हो, आन्या, कि कभी-कभी पहचानी ही नहीं जाती।"

अनाखोन उत्तर देती है, "बहन सोफ़िया, आपने ख़ुद कहा था कि सहकारी समिति में बिताया एक दिन बंद कमरे में बिताए जीवन-भर के बराबर है।"

इस उपन्यास में एक पात्र अर्गाश सुल्तानोव है, जो 19 साल की उम्र में लाल सेना में शामिल हुआ था। जो सूदखोर क़ुदरत-उल्ला और उसके जैसे लोगों से नफ़रत करता था। उसके पिता की मौत और कठिन जीवन ने उसे कठोर बना दिया। वह मोर्चे पर चार साल लड़ाई करता रहा, नायमांचा आकर वह अपनी माँ और भावी जीवनसाथी खोज़िया को देखता है कि वे समझदार हैं, राइफ़ल से दुश्मन को मारने के बजाय वे नए जीवन के निर्माण का काम कर रही हैं। खोज़िया जो मॉस्को जाती है, पढ़ना-लिखना सीखती है,

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

से अर्गाश ईर्ष्या की भावना भी महसूस करता है, लेकिन कॉमरेड येफ़िम डेनिलोविच से एक सच्चे कम्युनिस्ट का मतलब समझता है।

इस उपन्यास में एक वृतांत है जिसमें एक लोक अदालत लगी है, न्यायाधीश जुराखोन है, आरोपी मतकोवुल बे है और पीड़िता उसकी नौकरानी है, जो उसके बच्चे की माँ है। अर्गाश पहली बार यहाँ समाजवाद का मतलब समझता है, जब अर्गाश ग़ुस्से में कहता है कि सभी बुराइयों को ख़त्म कर देना चाहिए। कॉमरेड येफ़िम कहता है, "अब तुमसे इससे ज़्यादा की उम्मीद है। खोलनिसा को मतकोवुल से बचाना ही काफ़ी नहीं है। हमें उसके लिए एक नए जीवन का निर्माण करना चाहिए, वैसे ही जैसे हम एक घर का निर्माण करते हैं। अगर हम कम्युनिस्ट हैं तो यही काम है, जिसे हमें करना चाहिए।"

लोगों का आपसी सहयोग असंभव को संभव बनाता है। नायमांचा की एक ऐसी जगह, जहाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी कूड़े-कचरे का अंबार लगा रहता था, जो देखने में राक्षस लगता था, देखते ही देखते साफ़-सुथरी और समतल जगह में तब्दील हो जाता है। बुजुर्ग, पुरुष और औरतें नए जोश के साथ, भाईचारे की भावना, ख़ुद के लिए नायमांचा का नया जीवन, बिना थके नरक को स्वर्ग में बदल देते हैं। दुश्मन की चालों द्वारा प्रिय कॉमरेड जुराखोन की हत्या उन्हें तोड़ने के बजाय और मज़बूत करती है। जब लोग समूह के लिए जीते हैं, तो वे एक अजेय शक्ति बन जाते हैं, जब वे इसे गहराई से महसूस करते हैं, तो वे अपने आपमें नयापन महसूस करते हैं। बूढ़े अपने आपको जवान महसूस करते हैं।

उपन्यास धारा-प्रवाह चलता है। भावनात्मक उतार-चढ़ाव, नए जीवन का निर्माण, उस निर्माण के लिए समस्याओं का सामना करना। समाजवादी निर्माण को नाकाम करने, औरतों को धार्मिक बंधनों में क़ैद रखने की कोशिशों को नाकाम करने की कहानी है उपन्यास 'बहनें'। आज जो लोग नए समाज के निर्माण में लगे हुए हैं, जो सारी मानवता और औरतों के लिए बेहतर जीवन का सपना देखते हैं, उन्हें यह उपन्यास ज़रूर पढ़ना चाहिए।

– रविंदर कौर

पत्रकारिता का गला घोंटता दुनिया का सबसे बड़ा 'लोकतंत्र'

दुनिया में भारत को सबसे बड़े 'लोकतंत्र' के रूप में जाना जाता है, लेकिन असल में यहाँ लोकतंत्र केवल पूँजीपतियों का है, बाक़ी लोगों के लिए सच बोलने और राय व्यक्त करने की स्वतंत्रता बहुत सीमित है। दुनिया में आर.एस.एफ़. नामक संस्था द्वारा वैश्विक स्तर पर प्रेस की स्वतंत्रता को लेकर हर साल एक सूचकांक जारी किया जाता है। विश्व प्रेस की स्वतंत्रता सूचकांक 2023 में भारत की रैंकिंग 180 देशों में से गिरकर 161वें स्थान तक पहुँच चुकी है। यह रैंकिंग पहले भी बहुत अच्छी नहीं थी; 2010 में यह 112 और 2014 में 140 थी। रिपोर्टों के मुताबिक़, साल 2023 देश में पत्रकारिता के लिए अब तक का सबसे काला साल रहा है। एक रिपोर्ट के मुताबिक़ अकेले उत्तर प्रदेश में योगी सरकार के कार्यकाल के दौरान 2017 से 2022 तक 138 पत्रकारों पर हमले हुए, जिनमें 48 में गुंडों के ज़रिए हमले हुए, 66 को गिरफ़्तार किया गया और 12 पत्रकारों की हत्या कर दी गई।

जनवरी 2023 की शुरुआत पत्रकारिता पर हमलों से हुई। बी.बी.सी. द्वारा 17 जनवरी को अपने आधिकारिक चैनल पर एक डॉक्यूमेंट्री 'मोदी का भारत' का पहला भाग जारी किया गया। यह डॉक्यूमेंट्री 2002 के गुजरात क़त्लेआम में मोदी सरकार की भूमिका पर आधारित थी, लेकिन जारी होते ही अगले दिन मोदी सरकार ने देश के ख़िलाफ़ 'दुष्प्रचार' करने और 'सूचना एवं प्रौद्योगिकी क़ानून' का इस्तेमाल करते हुए ऑनलाइन प्लेटफ़ॉर्म और कहीं भी इसके प्रदर्शन पर पूर्ण पाबंदी लगा दी। बी.बी.सी. द्वारा इस फ़िल्म के रिलीज़ होने के बाद, मोदी के इशारे पर कर विभाग ने उसके कार्यालय पर छापा मारा और 'टेक्स चोरी' जैसे बहाने बनाए गए। इस संस्थान से जुड़े पत्रकारों को सरकार की आलोचना करने पर डराया-धमकाया गया।

बद से बदतर कश्मीर के हालात

अगर हम कश्मीर की बात करें, तो शुरू से ही कश्मीर को खुली जेल बनाकर रखा गया है, लेकिन 2019 में धारा 370 हटाने के बाद पत्रकारों पर यू.ए.पी.ए. जैसे क़ानून लगाकर विरोधी आवाज़ों को दबाने करने की कार्रवाइयाँ और तेज़ कर दी गई हैं। कश्मीर में पत्रकारों को गिरफ़्तारी का डर हमेशा बना रहता है कि उन्हें पता नहीं कब सरकारी एजेंसियाँ उनके घरों में आ धमकें। जम्मू और कश्मीर के दर्जनों पत्रकार सच बोलने के कारण जेल में क़ैद हैं। कश्मीर के एक स्थानीय अख़बार 'द कश्मीरवाला' के पत्रकार फ़हाद शाह को 2 फ़रवरी 2022 को यू.ए.पी.ए. के तहत गिरफ़्तार कर लिया गया और उनका वेब पोर्टल बंद कर दिया गया। स्थानीय अदालत ने फ़हाद को निर्दोष करार दिया। जब शाह बाहर आए, तो उन्होंने 'आर्टिकल-14' नाम के एक वेब पोर्टल को इंटरव्यू देते हुए इस अन्यायपूर्ण क़ैद के बारे में बताया और कहा, "मैं करीब 21 महीने तक जेल में रहा। मेरे लिए हर घंटा एक संघर्ष की तरह था, हर सांस एक लड़ाई की तरह थी और हर दिन मेरे सामने खड़े एक विशाल पहाड़ की तरह था। ऐसा लगता था, जैसे मैं समुद्र में डूब रहा हूँ, मैं बाहर निकलने की कोशिश करता था, लेकिन ऐसा लग रहा था, जैसे मेरी कमर के साथ कोई भारी पत्थर बँधा हो जो मुझे और नीचे ले जा रहा हो।" शाह के इंटरव्यू के बाद इस वेब पोर्टल को भी बंद कर दिया गया। जम्मू-कश्मीर 2022 तक दुनिया का पहला ऐसा क्षेत्र है, जहाँ इंटरनेट 550 से ज़्यादा दिनों तक बंद रहा।

नए जनविरोधी क़ानून

प्रेस की आज़ादी पर शिकंजा कसने के लिए मोदी सरकार 2021 में नए आई.टी. नियम-क़ानून लेकर आई है, जिनके तहत किसी भी तरह की ख़बर जाँचने के लिए सरकार हर ज़िले में एक-एक 'तथ्य जाँच सेल' स्थापित करेगी और किसी भी ख़बर पर 'फ़र्जी' या 'ग़ैरक़ानूनी' ख़बर का ठप्पा लगने के बाद इसे सभी सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म से हटाना लाजमी होगा। 'तथ्य जाँच सेल' का असल मतलब है कि कोई भी ख़बर, जो सरकार को पसंद नहीं है, उसे चलाना अब ग़ैरक़ानूनी होगा। 'एमनेस्टी इंटरनेशनल' नाम की संस्था की ओर से जारी रिपोर्ट में कहा गया है कि साल 2023 में मोदी सरकार ने इज़राइल के स्पाइवेयर पेगासस की मदद से कई मशहूर पत्रकारों, विपक्षी नेताओं और कई सामाजिक कार्यकर्ताओं के फ़ोनों की जासूसी की। पिछले साल नवंबर में एप्पल कंपनी ने भी भारत के कुछ पत्रकारों के आईफ़ोन की जासूसी करने के भी आरोप लगाए थे।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि 2014 में मोदी सरकार बनने के बाद से विरोधी पत्रकारों पर हमले बढ़े हैं। लेकिन इसके साथ ही मीडिया का एक बड़ा हिस्सा मोदी के सुर में सुर मिला रहा है। यह गोदी मीडिया तेज़ी से लोगों के बीच में अपनी साख खो चुका है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण कृषि क़ानूनों के ख़िलाफ़ चले संघर्ष में देखने को मिला, जहाँ सारे गोदी मीडिया का लोगों द्वारा विरोध किया गया। वहीं दूसरी ओर कई छोटे-बड़े मीडिया विशेषकर सोशल मीडिया ने इस संघर्ष के समर्थन में पत्रकारिता की आवाज़ बुलंद की। इस संघर्ष के दौरान बड़े पैमाने पर आम लोगों ने संघर्ष के पक्ष में ट्विटर (अब एक्स) प्लेटफ़ॉर्म का इस्तेमाल किया। इस जन अभियान से घबराकर मोदी सरकार ने ट्विटर पर भी प्रतिबंध लगाने की कोशिश की, जिसका खुलासा ट्विटर के पूर्व मुख्य कार्यकारी अधिकारी जैक डोर्सी ने जून 2023 में एक साक्षात्कार में किया था, जब उन्होंने कहा कि मोदी सरकार ने उन्हें धमकी दी थी कि 'खेती आंदोलन से संबंधित ख़बरें' ट्विटर से नहीं हटाई गईं, तो सरकार देश में ट्विटर को बंद कर देगी और उसके अधिकारियों के घरों पर छापेमारी की जाएगी।

अब ऐसे कई विरोधी मीडिया संस्थानों की आवाज़ को बंद करने के लिए सरकार एक नया क़ानून 'प्रसारण सेवाएँ (कंट्रोल) बिल, 2023' लेकर आई है। इस बिल के क़ानून बनने के बाद कोई भी ऐसी ख़बर जो सरकार की साख को नुक़सान पहुँचाती हो, चाहे ऐसी ख़बर किसी भी सोशल मीडिया उपयोगकर्ता के निजी खाते पर पोस्ट की गई हो, तो भी सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म जैसे कि गूगल, फ़ेसबुक, व्हाट्सएप, ट्विटर आदि को इस पोस्ट को हटाना लाजमी होगा।

'न्यूज़क्लिक' की जुबानबंदी

पिछले साल अक्टूबर महीने में वेब पोर्टल 'न्यूज़क्लिक' के पत्रकार पर मोदी सरकार ने हमले शुरू किए। इसी संस्था के साथ जुड़े लगभग 46 पत्रकारों पर छापेमारी की गई, जिनमें से चार पर यू.ए.पी.ए. जैसे देशद्रोह के क़ानून लागू किए गए। असल में मोदी सरकार इस संस्थान से इतनी ख़फ़ा क्यों थी? इसका कारण है कि 'न्यूज़क्लिक' पिछले लंबे समय से भाजपा सरकार की आर्थिक और राजनीतिक नीतियों का लगातार विरोध करता आया है। तीन खेती क़ानून और नागरिकता संशोधन क़ानून के ख़िलाफ़ चले जनांदोलन में इन्होंने खुलकर लोगों का पक्ष लिया और भाजपा सरकार की नीतियों का विरोध किया। इसके अलावा कश्मीर से धारा 370 और 35 ए हटाने का भी 'न्यूज़क्लिक' द्वारा विरोध

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

किया गया (चाहे वह कश्मीर और अन्य राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन नहीं करता)। भाजपा समय-समय पर अपने हाकिमों, इजारेदार पूँजीपतियों, की जेबें भरने के लिए जो जनविरोधी नीतियाँ लाती रहती है, जैसे कि मज़दूर विरोधी श्रम क़ानून, सरकारी ख़रीद ख़त्म करने के लिए लाया गया क़ानून, वन (सरंक्षण) संशोधन क़ानून 2023, आदि का भी न्यूज़क्लिक पर छपते लेखों में विरोध किया जाता रहा है। न्यूज़क्लिक द्वारा भाजपा सरकार के इजारेदार पूँजीपतियों – ख़ासकर अंबानी-अदाणी के साथ याराने संबंधी तथ्य भी लगातार नज़र किए जाते रहे हैं। अदाणी द्वारा की गई जालसाजी को भी इस संस्थान द्वारा काफ़ी तवज्जो दी गई थी। इसके अलावा यहाँ कई लेख भारत की मज़दूर-मेहनतकश आबादी के भयंकर जीवन-हालातों, ग़रीबी, बेरोज़गारी, कुपोषण, अमीर-ग़रीब की बढ़ती खाई, इनके जनवादी अधिकारों के हनन संबंधी छपते रहते हैं, जो मोदी सरकार की नीतियों पर सवालिया निशान खड़ा करते हैं। इन्हीं सब कारणों के चलते ही न्यूज़क्लिक आर.एस.एस.-भाजपा की आँखों की किरकिरी बना हुआ है। पत्रकारों और जनाधिकारों के लिए लड़ने वाले लोगों की जुबानबंदी के लिए सिर्फ़ भाजपा सरकार ही नहीं, बल्कि दूसरे राज्यों की सरकारें भी इस काम में मोदी के साथ उसी की राह पर ही चल रही हैं। महाराष्ट्र की सरकार ने एक क्षेत्रीय अख़बार 'महानगरी टाइम' के पत्रकार को सरकार की जनविरोधी कार्रवाइयों का पर्दाफ़ाश करने के बदले एक गाड़ी के नीचे कुचलवाकर मरवा दिया। पंजाब में भी भगवंत मान की सरकार द्वारा खालिस्तान के बहाने कई पत्रकारों, जो समय-समय पर सरकार की नीतियों की आलोचना कर रहे थे, उनके घरों में छापेमारी की गई और दर्जनों पत्रकारों के सोशल मीडिया खाते बंद कर दिए गए। सरकार की आलोचना करने के कारण पश्चिम बंगाल में 'आनंद बाज़ार' पत्रिका पत्रकारों पर एक साज़िश के तहत हमला करवाया गया।

पूरे देश में आज यही हालत है। हक़, सच, इंसाफ़ के लिए उठने वाली हर आवाज़ को दबाया जा रहा है। फिर भी लोग सरकारों की इन जनविरोधी नीतियों का बड़े स्तर पर विरोध करते नज़र आते हैं। लोगों का यह विरोध इस बात का गवाह है कि भाजपा हुकूमत या पूँजीपतियों की अन्य पार्टियों के लिए मनमर्जी बहुत देर तक चलने वाली नहीं है।

– पुष्पिंदर

अदाणी के मुनाफ़े बढ़ाने के लिए हसदेव जंगल की तबाही
कांग्रेस और भाजपा का जनता से धोखा

हसदेव अरंड जंगल छत्तीसगढ़ के कोरबा और सरगुजा ज़िलों में फैला हुआ है। यह जंगल जैविक विविधता के नज़रिए से भारत के सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधनों में से एक है। यह जंगल भारत में अलोप होने का सामना कर रही जानवरों की प्रजातियों के अलावा, दुर्लभ वनस्पति के लिए भी जाना जाता है। इस इलाक़े में गोंड, ओरान के साथ कुछ और आदिवासी क़बीले के लोग भी रहते हैं। पर पिछले कुछ समय से भारत का सबसे बड़ा पूँजीपति गौतम अदाणी इन जंगलों को अपने क़ब्ज़े में करने के लिए हर तरीक़ा अपना रहा है। इस काम में भारत के एकाधिकारी पूँजीपति वर्ग की दोनों मनपसंद पार्टियाँ, भाजपा और कांग्रेस अलग-अलग समय पर अलग-अलग तरह से उसकी कठपुतली बनी हुई हैं। दरअसल इस जंगल में बड़ी मात्रा में कोयले के भंडार पाए जाते हैं। यह कोयला ज़मीनी सतह के काफ़ी नज़दीक ही मौजूद है, जिसके कारण इसे निकालने का ख़र्च काफ़ी कम है। इस वजह से इन कोयला खदानों से बड़े मुनाफ़े हासिल किए जा सकते हैं। पर इस कोयले को निकालने के लिए इस क्षेत्र का 1500 वर्ग किलोमीटर में फैला जंगल काटना पड़ेगा, जिससे यह इलाक़ा बिल्कुल तबाह हो जाएगा। इस काम की शुरुआत भी हो चुकी है। साल 2022 की शुरुआत में जब छत्तीसगढ़ में कांग्रेस की सरकार थी, तब ही तकरीबन 100 एकड़ से अधिक इलाक़े में वृक्षों की कटाई शुरू हो चुकी थी। कांग्रेस के उस समय के मुख्यमंत्री भूपेश बघेल ने इसे "राष्ट्र-हित" कहकर जायज़ ठहराया था। अब नवंबर में हुए चुनाव में राज्य में भाजपा की सरकार बन चुकी है। छत्तीसगढ़ में ही हुई एक रैली में मोदी ने यह ऐलान किया था कि आदिवासियों के 'जल, जंगल और ज़मीन' को कोई नुक़सान नहीं पहुँचाया जाएगा, पर सरकार बनने के कुछ दिनों बाद ही हसदेव जंगल में अदाणी को कोयला खदान खोदने के लिए हरी झंडी मिल चुकी है। ख़ुद से हुए इस धोखे के ख़िलाफ़ आदिवासी काफ़ी समय से प्रदर्शन कर रहे हैं, लेकिन इंसाफ़ के नाम पर उन्हें झूठे दिलासे दिए जा रहे हैं।

हसदेव में कोयला खुदाई का इतिहास

हसदेव अरंड का जंगल छत्तीसगढ़ के कोयला समृद्ध क्षेत्रों में से एक है। एक अंदाज़े के मुताबिक़ यहाँ करीब 1800 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में कोयले के भंडार पाए जाते हैं। साल 2010 में इन जंगलों में कोयले की खुदाई करने की मंजूरी मिलने के बाद यह खदान राजस्थान की सरकारी बिजली कंपनी को दी गई थी। बाद में राजस्थान सरकार ने अदाणी से समझौता करके खदान में से कोयला निकालने का ठेका अदाणी की कोयला कंपनी को दे दिया। साल 2011 में कांग्रेस की यूनियन सरकार के संरक्षण में पर्यावरण मंत्रालय की एक कमेटी ने इस जंगल की खुदाई के कारण पर्यावरण और स्थानीय आबादी पर पड़ने वाले बुरे प्रभावों को ध्यान में रखते हुए यहाँ कोयले की खुदाई के विरुद्ध सिफ़ारिश की थी, पर सब नियम-क़ानून तोड़कर तब के पर्यावरण मंत्री जैराम रमेश ने अदाणी को यहाँ कोयला खुदाई की इजाज़त दे दी। चाहे अभी भी खुदाई जंगल के बाहर वाले हिस्से में हो रही थी, तब भी इसके कारण स्थानीय लोगों को काफ़ी तकलीफ़ों का सामना करना पड़ रहा था। 2014 में सुप्रीम कोर्ट ने कांग्रेस सरकार के दौरान हुए कोयला घोटाले के कारण कोयले की खुदाई के सारे समझौते रद्द कर दिए, लेकिन मोदी की अगुवाई वाली भाजपा सरकार ने अदाणी के साथ हुए हसदेव समझौते को वैसे का वैसे ही बना रहने दिया और अदाणी बिना किसी रोक-टोक के यहाँ पर्यावरण को उजाड़ रहा है। इस समय के दौरान कांग्रेस और भाजपा आदिवासियों के वोट पाने के लिए एक-दूसरे को बदनाम करती रही हैं, लेकिन किसी ने भी इस समझौते को रद्द नहीं किया। यहाँ तक कि साल 2020 में भाजपा सरकार ने कोयला नियमों में संशोधन करके इस खदान में से दोयम दर्जे का कोयला निकालने और सरकारी कंपनियों को बेचने की भी छूट दे दी, जबकि पुराने नियमों के मुताबिक़ इस कोयले पर राजस्थान की सरकारी बिजली कंपनी का हक़ बनता था। यह कोयला अदाणी की मालिकी वाले तीन थर्मल प्लांटों को बाज़ार की क़ीमत से काफ़ी कम क़ीमत में बेचा गया। इस कोयले को इस्तेमाल करने से पहले एक ख़ास प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है, जिसे 'धोना' कहा जाता है। इस प्रक्रिया में कोयले से राख को अलग किया जाता है। नियमों के मुताबिक़ उस दूसरे दर्जे के कोयले पर भी राजस्थान सरकार की मालिकी है, क्योंकि अदाणी को समझौते के मुताबिक़ 'धोने' की प्रक्रिया के भी पैसे दिए जा रहे हैं, लेकिन अदाणी सरेआम इसे अपने प्लांट में इस्तेमाल करता है।

साल 2020 में हसदेव खदान में कोयले की खुदाई का पहला हिस्सा पूरा होने के बाद, इसके दूसरे हिस्से की शुरुआत से पहले भी स्थानीय लोगों के साथ बड़ा धोखा किया गया। भारतीय संविधान के नियमों के मुताबिक़ आदिवासी इलाक़ों में ज़मीन पर किसी क़िस्म की औद्योगिक गतिविधि करने से पहले आदिवासी ग्राम सभा की मंजूरी लेना लाज़िमी है। हसदेव के आदिवासी शुरू से ही इस प्रोजेक्ट के ख़िलाफ़ थे, इसके कारण उन्हें इस दूसरे हिस्से को मंजूरी देने से इनकार कर दिया। इसके बाद स्थानीय अधिकारियों ने एक नक़ली ग्राम सभा का आयोजन करके, गाँववासियों की मर्जी के बिना ही अदाणी को इस क्षेत्र की खुदाई करने की आज्ञा दे दी। इसके बाद लोगों ने बड़े स्तर पर प्रदर्शन किए और 300 किलोमीटर चलकर ख़ुद छत्तीसगढ़ के कांग्रेस के मुख्यमंत्री और राज्यपाल को एक पत्र भी दिया। नक़ली दिलासे के अलावा सरकार ने लोगों के साथ किए वायदे को वफ़ा नहीं किया। फ़रवरी 2022 में ही अदाणी ने हसदेव इलाक़े के जंगल काटने की कार्यवाई शुरू कर दी। इस कार्यवाई के दौरान बड़ी संख्या में पुलिस कर्मचारियों को गाँववासियों के घरों के बाहर तैनात करके और गाँव के सरपंच, हसदेव के जंगल को बचाने के लिए लड़ रहे अन्य कार्यकर्ताओं को नज़रबंद करके इन जंगलों को काटा गया। इससे यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि कैसे राज्यसत्ता अदाणी के पक्ष में खड़ी है। चाहे चुनाव के

(पन्ना 7 पर जारी)

कैथे कोलवित्ज़ – जर्मनी की लोक कलाकार

"मानव इतिहास के अमर जनांदोलनों पर सवार ये मेहनतकश – हड्डियाँ गलाते, संघर्ष करते और सपने सँजोते हैं; अपनी फूट और अज्ञानता से जकड़े हुए ये कभी-कभार सचेत बग़ावत बनकर उठते हैं और अक्सर ऐसी हस्तियाँ संपूर्ण जगत को इसकी दबी हुई ख़ूबसूरती और अथाह प्रतिभा का नमूना पेश करती हैं, ऐसा नमूना जिसके बिना मानव सभ्यता की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ऐसी ही हस्ती है जर्मनी की कैथे कोलवित्ज़।"

ये शब्द प्रसिद्ध पत्रकार और भारत के आज़ादी आंदोलन और चीन की क्रांति के लिए आवाज़ बुलंद करने वाली अमेरिकी कार्यकर्ता इग्निस मेडल द्वारा कैथे कोलवित्ज़ पर लिखे लेख से हैं।

कैथे कोलवित्ज़ का जन्म 8 जुलाई 1867 में जर्मनी के औद्योगिक शहर कोनिग्सबर्ग, जो कि उस समय पूर्वी प्रशियाई बादशाही के अधीन था, में एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। उनके पिता कार्ल स्मित पेशे से मिस्त्री और राजनीतिक विचारों से एक सामाजिक जनवादपसंद और राजशाही के ख़िलाफ़ थे। कैथे के पिता ने अपनी सीमित कमाई के बावजूद उसे सरकारी स्कूली शिक्षा के साथ-साथ घर में ही शिक्षा देने की पहल दी, क्योंकि उस समय सरकारी स्कूलों में लड़कियों को केवल घरेलू कामकाज और बच्चों के पालन-पोषण की शिक्षा ही दी जाती थी। कैथे बचपन में नाना द्वारा मई 1848 की असफल क्रांति के सुनाए जाने वाले क़िस्सों को गहरे मन से याद करती हुई लिखती हैं कि नाना हमें उन बहादुर लोगों की कहानी सुनाते थे, जिन्होंने बग़ावत में हिस्सा लिया था और बताते हैं कि "किस तरह इस एकतरफ़ा लड़ाई में बर्लिन पुलिस द्वारा 183 मज़दूरों को, जिसमें सात औरतें भी थीं, बेरहमी से शहीद कर दिया गया था।"

उसकी शुरुआती पढ़ाई भी उसके नाना की देखरेख में एक ऐसे माहौल में हुई, जहाँ आलोचनात्मक नज़रिया और समाजवादी विचारों को प्रोत्साहित किया जाता था। 1848 की कुचल दी गई क्रांति के प्रगतिशील विचारों का असर उसके परिवार पर भी था और उसके पिता समाजवाद को समर्पित जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी के सदस्य थे। उसका भाई कौनरेड स्मित भी इसी पार्टी का सदस्य था और उसने ही कैथे को गोएथे जैसे प्रगतिशील जर्मन साहित्यकारों से वाक़िफ़ करवाया था।

1885-86 में कैथे ने महिला कलाकारों के लिए बने बर्लिन स्कूल में दाख़िला लिया और कलाकार मैक्स क्लिंगर के साथ कला की बाकायदा शिक्षा ली। इन दिनों में ही वह अपने पिता के दफ़्तर आते मज़दूर, मलाहों और किसानों के चित्र बनाती। 17 साल की उम्र में उसके भाई कौनरेड ने उसकी जान-पहचान मेडिकल के विद्यार्थी कार्ल कोलवित्ज़ से करवाई, जिसके साथ उसने 1891 में विवाह किया। इन दिनों में कार्ल बर्लिन में ग़रीब मरीजों को देखा करता था। अपने पति के साथ इलाज के लिए आते इन ग़रीब मरीजों के साथ मुलाक़ातों का कैथे की कलाकारी पर गहरा असर हुआ, उसने लिखा –

"इस मज़दूर तबक़े की ज़िंदगी से मैं अनेकों ख़ूबसूरत लक्षण चुनती हूँ... पूँजीपति वर्ग के लोगों की ज़िंदगी मेरे लिए वैसे ही दिलचस्प नहीं थी, जबकि मध्यवर्गीय लोगों की ज़िंदगी मुझे रूढ़िवादी तर्ज की लगी। दूसरी तरफ़ मज़दूर तबक़े की ज़िंदगी से मुझे ताक़त और गहराई की समझ मिली। जब मैं उन ज़रूरतमंद औरतों को देखती जो मेरे पति के पास इलाज के लिए आती थीं, तो मेरा इन मज़दूरों की ज़िंदगी के साथ जुड़े हर पहलू से लगाव हो गया। मैं फिर कहना चाहती हूँ – 'मेरा इस तबक़े के साथ लगाव किसी दया के कारण नहीं, बल्कि उनके अंदर मौजूद एक ख़ास ख़ूबसूरती के कारण है'।"

कैथे कोलवित्ज़, 1907

पहली कलाकृतियाँ – 'बुनकरों का विद्रोह'

1893-97 के बीच जरहार्ट हाप़्टमैन के नाटक 'बुनकर' से प्रभावित कैथे ने अपनी पहली रचना 'बुनकरों का विद्रोह' पेश किया, जिसका आधार सिलेसिया में 1844 में हुए बुनकरों की बग़ावत थी। इस रचना में उसने 6 अलग-अलग लिथोग्राफ़ और प्रिंट गढ़े, जो बुनकरों के भयानक शोषण और ग़रीबी, बेवक़्त मौत, आपसी योजना, मालिक की कोठी पर धावा और फ़ौजियों की बंदूक़ों द्वारा मौत के पड़ाव को चित्रित करती हैं। कैथे की कलाकृतियों के बारे में लिखने वाले कार्ल ज़िग्रोसर के मुताबिक़ यह श्रृंखला –

"वर्ग सचेत कला का मील पत्थर थी – क्योंकि यह लगभग पहली बार ही था कि मज़दूरों की दशा और अपनी हालत सुधारने के उनके संघर्षों को चित्रों में हमदर्दी के साथ गढ़ा गया था... जिस तरह 'मिले' (प्रसिद्ध फ़्रांसीसी नक्काश – याँ फ़्रांसुआ मिलेट) किसानों को संबोधित हुए, उसी तरह कैथे मज़दूरों को संबोधित हुई – नए जीवन ढंग और बेहतर दुनिया को कैनवस पर उतारते हुए"

चित्र- बर्लिन में बुनकरों का मार्च

1898 में इस श्रृंखला को जनता के सामने पेश किया गया, लेकिन जब कलाकार एडोल्फ़ मेंजल ने इसे 1898 की महान बर्लिन कला-प्रदर्शनी में स्वर्ण-पदक के साथ नवाजे जाने की तजवीज पेश की, तो प्रशिया के राजा कैसर विल्हेम द्वितीय ने हिकारत के साथ यह कहकर इनकार कर दिया कि "पदक और सम्मान गुणवान मर्दों की छातियों पर शोभा देते हैं, ना की औरतों पर"। सम्मानित ना किए जाने के बावजूद भी इस कलाकृति ने कैथे को कलाकारों की दुनिया में स्थापित कलाकार के तौर पर मान्यता हासिल करवाई।

कैथे की दूसरी लिथोग्राफ़ श्रृंखला जर्मनी की 16वीं सदी के मशहूर किसान विद्रोह के बारे में थी, जिस पर उसने 1902-08 तक काम किया। इस श्रृंखला के तहत उसने ऐतिहासिक विद्रोह को फिर से पेश करते हुए अपने समय के ग़रीब किसानों की जीवंत दुर्दशा चित्रित की। इस रचना का आधार जर्मन इतिहासकार विल्हेम ज़िम्मरमैन द्वारा किसान विद्रोह के बारे में जनपक्षधर नज़रिए से तीन किश्तों में लिखी किताब थी, जो उस समय के सामाजिक जनवादी दायरे में काफ़ी चर्चित थी। प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारकों फ़्रेडरिक एंगेल्स और ऑगस्त बेबल ने भी अपनी रचनाओं में इसी किताब के उद्धरण दिए थे।

चित्र - हल्ला (श्रृंखला किसान विद्रोह),1902-03

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

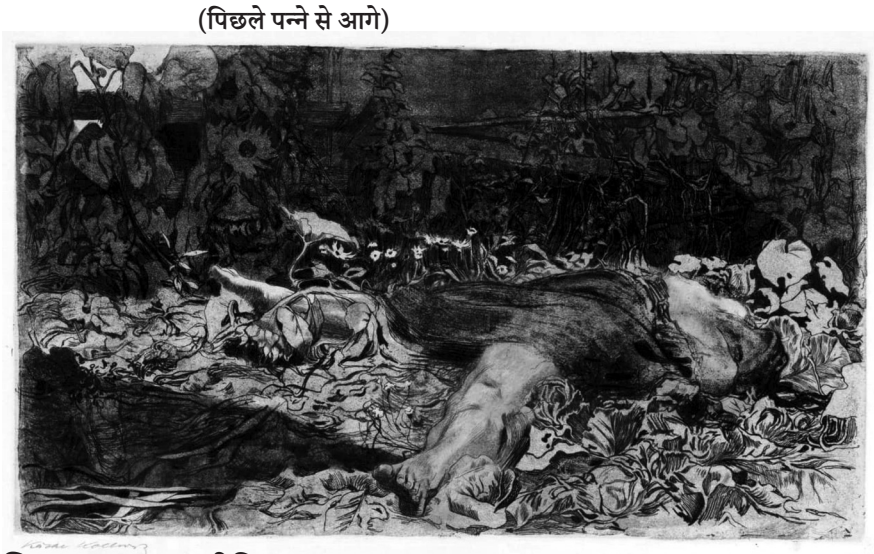

चित्र - बलात्कार पीड़िता, 1907-08

इस श्रृंखला में अनोखी बात यह थी कि इसकी 7 रचनाओं में से 4 में केंद्र में महिला पात्र थी, जो दुखों-मुसीबतों और जंग में भी अपने साथी के साथ बराबर की भागीदार थी। 'बलात्कार' शीर्षक वाली इस श्रृंखला की दूसरी छाप पश्चिमी कला की उन शुरुआती रचनाओं में से थी, जिसमें बलात्कार पीड़ितों के दर्द को हमदर्दी के साथ दिखाया गया था।

पहला विश्व युद्ध और उसके बाद

1914 में शोषक साम्राज्यवादी हुकूमत ने अपने मंसूबों के लिए मानवता को पहले विश्व युद्ध में झोंक दिया। उसी समय जर्मनी में सभी अवसरवादी पार्टियों ने इंटरनेशनल के उसूलों को दरकिनार कर अपनी शोषक हुकूमत के पक्ष में खड़े होने का रुख़ अपनाया। तब जर्मनी में स्पार्टकस लीग संगठन के कम्युनिस्ट ही थे, जिन्होंने डटकर साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध किया और लुटेरी जर्मन सरकार के असल मंसूबों को जग जाहिर किया। इन नेताओं में कार्ल लिबनेख्त और रोज़ा लग्ज़मबर्ग मुख्य नेता थे, जिनकी 1919 में जर्मन सरकार ने उनकी हत्याएँ करवा दी थीं।

क़त्ल किए गए मज़दूर वर्ग के बेधड़क नेता कार्ल लिबनेख्त को समर्पित करते हुए कैथे ने 'कार्ल लिबनेख्त के लिए स्मृति पत्र' बनाया, जिसमें उसने मज़दूर वर्ग के अपने इस नेता के क़त्ल के बाद उसके इर्द-गिर्द जुड़े, शोक मनाते मेहनतकशों की मनोदशा दिखाने की कोशिश की।

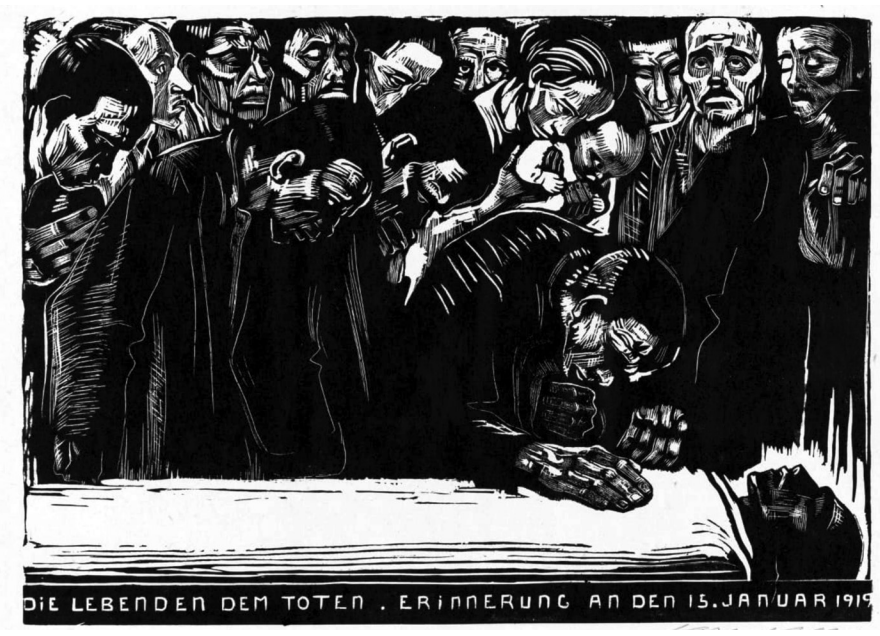

चित्र - कार्ल लिबनेख्त के लिए स्मृति पत्र, 1919

पहले विश्व युद्ध में अपने बेटे की मौत के रूप में साम्राज्यवादी युद्ध की तबाही का बोझ अपने कंधों पर ढोने के साथ कैथे की साम्राज्यवादी युद्ध विरोधी भावनाएँ और तीव्र हो गईं। 1923 में उसने लकड़ी को तराशकर बनाई सात प्रतिमाओं पर आधारित अपनी प्रसिद्ध कलाकृति 'युद्ध' की रचना की। इस श्रृंखला की सबसे चर्चित रचना 'वॉलंटियर' चार ऐसे नज़रबंद नौजवानों को दिखाती है, जो मौत रूपी धुरी के पीछे चले जा रहे हैं। इस श्रृंखला की कलाकृति असल में लुटेरी हुकूमत द्वारा 'क़ुर्बानी', 'देशभक्ति' आदि के नाम पर आम लोगों के बेटे-बेटियों की बलि देने के साम्राज्यवादी धंधे के घिनौनेपन से पर्दा हटाकर रख देती है।

हालाँकि कैथे कोलवित्ज़ किसी कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्य नहीं रही, लेकिन उसका लोगों में काम इस बात का जीता-जागता सबूत है कि उसकी हमदर्दी हमेशा शोषित तबक़े के साथ रही। 1924 में उसने सोवियत संघ में लगी जर्मन कला-प्रदर्शनी में हिस्सा लिया और 1927 में अक्टूबर क्रांति की दसवीं वर्षगाँठ के मौक़े पर उसे सोवियत संघ आने का न्योता भेजा गया। सोवियत संघ के शिक्षा विभाग के पहले जनकमिसार और प्रसिद्ध कला-आलोचक अनातोली लूनाचार्स्की ने इस अवसर पर लिखे लेख 'पश्चिमी क्रांतिकारी कला की नुमाइश' में कैथे की कलाकृतियों को सराहा।

ऐसे समय में जब "कला कला के लिए" के नारे को शोषक हुकूमत द्वारा प्रफुल्लित किया जा रहा था, उस समय कैथे ने "कला समाज के लिए" के मक़सद के साथ अपनी पूरी ऊर्जा मानवता को दरपेश बड़ी चुनौतियों को कला के माध्यम से दूर करने में लगाया। 1920 में उन्होंने लिखा –

" डरे हुए बच्चों की तस्वीर बनाती हुई मैं उनके साथ रोई और मेरे सर पर भारी बोझ का मुझे तब गहरा अहसास हुआ। मुझे अहसास हुआ कि अपने पात्रों की वकालत करने की ज़िम्मेदारी से मैं मुँह नहीं मोड़ सकती। लोगों पर लदे पहाड़ जैसी दुख-तकलीफ़ों को आवाज़ देना मेरी ज़िम्मेदारी है।"

इसी तरह उसने एलान किया –

"शुद्ध स्टूडियो कला असल में बेमतलब और कमजोर कला है। जिस कला की जीवंत जड़ें ही नहीं – भला ऐसी कला का वजूद ही क्यों हो।"

1933 में जर्मनी में नाज़ी हुकूमत के क़ायम होने पर उसकी कलाकृतियों पर पाबंदी लगा दी गई। उसे 'बर्लिन ललित कला अकादमी' में प्रोफ़ेसर का औहदा छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। अजायबघरों और नुमाइशों में से उसकी कलाकृतियाँ हटा दी गईं। 1936 में कैथे और उसके पति को ख़ुफ़िया पुलिस गेस्टापो द्वारा तंग किया गया और यातना केंद्र में झोंक दिए जाने की धमकी दी गई। इस सबके बावजूद अलग-थलग हुई कैथे ने अपनी युद्ध विरोधी कलाकृतियाँ बनाना जारी रखा और इसी दौर में ही पहले विश्व युद्ध में मारे गए अपने बेटे पीटर को समर्पित यादगार भी मुकम्मल की।

जब साम्राज्यवादियों की कलह ने इंसानियत को दूसरे विश्व युद्ध में झोंक दिया, जब हिटलर की फ़ाशीवादी फ़ौज पूरे यूरोप को तबाह करती जा रही थी, तब समाजवादी सोवियत संघ ने ही उसके विजय रथ को रोका था। इसके बावजूद पश्चिमी ताक़तें चाहती थीं कि दुनिया का पहला मज़दूर राज सोवियत संघ तबाह हो जाए। ऐसे माहौल में कैथे द्वारा अपनी मौत के एक साल पहले 1944 में लिखी डायरी साम्राज्यवाद की भयानक तबाही और जर्मनी के अथाह दमघोटू माहौल में भी उसके इंसानियत की जीत में यकीन को दर्शाती है –

चित्र - जर्मनी के भूखे बच्चे, 1924

"पिछली जंग का जवाब एक और नई जंग द्वारा दिया जा रहा है, जब तक कि सब कुछ तबाह नहीं हो जाता। इसीलिए मैं इस पागलपन को रेडिकल ढंग से ख़त्म करने के हक़ में हूँ और इसीलिए मेरा यक़ीन सिर्फ़ और सिर्फ़ विश्व समाजवाद में है।"

सारी उम्र मज़दूरों के दुख-तकलीफ़ों की हमदर्द रही कैथे ने 22 अप्रैल 1945 को आख़िरी सांस ली और दो हफ़्ते बाद ही फ़ाशीवादी हिटलर द्वारा ख़ुदकुशी और समाजवादी सोवियत संघ की लाल फ़ौज की जीत के सामने जर्मन फ़ौजियों द्वारा घुटने टेके जाने ने साल पहले कैथे द्वारा जताई इच्छा पूरी कर दी और 20वीं सदी में सोवियत संघ ने समाजवादी राज की श्रेष्ठता को पूरी दुनिया में साबित किया।

– मानव

मज़दूरों को युद्ध में झोंकने पर आमादा भारत सरकार

42,000 मज़दूर इज़राइल भेजने के लिए इज़राइल हमलावरों से समझौता!

इज़राइल हमलावरों ने फ़िलिस्तीन के लोगों पर अन्यायपूर्ण युद्ध थोपा हुआ है। इस युद्ध के कारण इज़राइल के पाँच लाख लोग इज़राइल छोड़कर दूसरे देशों में जा चुके हैं। दूसरे देशों से आकर इज़राइल में काम करने वाले मज़दूर भी युद्ध के कारण इज़राइल छोड़ रहे हैं। लगभग 17,000 मज़दूर अपने देशों को वापस चले गए हैं। जहाँ दुनिया-भर से फ़िलिस्तीन के पक्ष में बड़े-बड़े रोष-प्रदर्शन हो रहे हैं, वहीं फ़िलिस्तीनी लोगों पर हो रहे भयंकर जुल्म के ख़िलाफ़ दुनिया-भर से इज़राइल के ख़िलाफ़ ज़ोरदार आवाज़ें उठ रही हैं। उसी समय भारत सरकार का बेशर्मी भरा मज़दूर विरोधी क़दम सामने आया है। विदेश मंत्री ने 42,000 भारतीय निर्माण मज़दूरों को इज़राइल भेजने का समझौता किया है। इससे पहले भी 18,000 भारतीय मज़दूर इज़राइल में हैं। हरियाणा सरकार के 'राष्ट्रीय कौशल रोज़गार विकास मंत्रालय' द्वारा ग़रीबी और बेरोज़गारी से बदहाल 10,000 मज़दूरों को निर्माण क्षेत्र में काम करने की नौकरियाँ निकाली हैं। जब पूरी दुनिया को यह बात पता है कि युद्ध के कारण इज़राइल-फ़िलिस्तीन का एक भी कोना सुरक्षित नहीं, वहाँ भारतीय हुकूमत इज़रायली हमलावरों के पक्ष में खड़ी है।

अक्टूबर के हमले के बाद इज़राइल ने फ़िलिस्तीनी मज़दूरों के इज़राइल में आकर काम करने वाले लाइसेंस रद्द कर दिए हैं। इसी कमी को पूरा करने के लिए भारत से मज़दूरों की माँग की गई है और भारत सरकार इसे पूरा करने के लिए पूरा ज़ोर लगाए हुए है। जब अन्य देश युद्ध क्षेत्र में से अपने नागरिकों को सुरक्षित निकालने के लिए कोशिश कर रहे हैं, उसी समय भारत के लोगों को युद्ध में धकेला जा रहा है। क्योंकि यहाँ ग़रीब मज़दूरों की बात है, जिनकी क़ीमत देश के हाकिमों की नज़र में कोई है नहीं।

'ट्रेड यूनियंस की अखिल भारतीय केंद्रीय काउंसिल' के अनुसार इन मज़दूरों को इज़राइल भेजते समय उन सारे मापदंडों को ताक पर रख दिया गया है जो युद्ध क्षेत्र में मज़दूर भेजते समय अमल में लाए जाते हैं। इन मज़दूरों का भारत के ई-माईग्रेट पोर्टल में नाम दर्ज करना भी ज़रूरी नहीं समझा गया, जो कि बाहर जाने वाले मज़दूरों की जानकारी और सुरक्षा के लिए ज़रूरी होता है। बीमा, इलाज और रोज़गार गारंटी जैसी सुविधाओं से भी इन मज़दूरों को वंचित रखा गया है। मज़दूरों को बाहर जाने के लिए नाम दर्ज करवाने के नाम पर 10000 रुपए सरकार को देने पड़ेंगे और टिकट वग़ैरा के ख़र्चे भी इन्हें ख़ुद ही करने पड़ेंगे। इन मज़दूरों के साथ ज़्यादा वेतन के वायदे किए जा रहे हैं। सच तो यह है कि हुक्मरान भारत के हों या इज़राइल के वे मज़दूरों का शोषण ही करते हैं।

भारत पहले ही इज़राइल के हमले का हिमायती है। युद्ध की हालत में मज़दूर भेजकर भारत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इज़राइली हमले को ही मदद दे रहा है। इज़राइल की इस मदद से भारत इज़राइल के साथ राजनीतिक, कूटनीतिक संबंध और मज़बूत बनाना चाहता है। हमारे देश में बेरोज़गारी का संताप ऐसा है कि मज़दूर युद्ध क्षेत्र में जाकर भी काम करने के लिए तैयार हैं। ग़रीबी से उकता चुके मज़दूर इज़राइल जाने को 'एक मौक़ा' समझते हैं। वे इस मुगालते में है कि 'सरकार इज़राइल भेज रही है, अगर कुछ ग़लत होता है, तो इसकी ज़िम्मेदारी भी सरकार लेगी'। भारत के ग़रीब मज़दूर इज़राइल जाने के लिए हरियाणा, उत्तर प्रदेश में जाकर लंबी क़तारों में लग रहे हैं। हरियाणा के रोहतक में ऐसे 'भर्ती केंद्र' के लिए हरियाणा और उत्तर प्रदेश के अलावा राजस्थान और पंजाब से भी बड़ी गिनती में नौजवान पहुँचे हैं। इस हालत ने देश में 45 वर्षों के रिकॉर्ड तोड़ती बेरोज़गारी की हालत को भी दर्शाया है। पत्रकारों ने भर्ती के लिए आए मज़दूरों के साथ बातचीत के आधार पर बताया है कि इन मज़दूरों के लिए परिवारों का गुज़ारा चलाना ही पहला सरोकार बना हुआ है और वो हर तरह का जोखिम उठाकर भी काम करने को तैयार हैं।

आज इंक़लाबी ताक़तों के सामने चुनौती है कि भारत के लाखों मज़दूरों तक वर्ग चेतना लेकर जाने का काम तेज़ी से करें, ताकि भारत के करोड़ों मज़दूर किसी अन्याय पूर्ण युद्ध के पक्ष में ना चले जाएँ। सबसे ज़रूरी है कि भारत के लुटेरे हाकिमों को ही भारत में ही अच्छा रोज़गार मुहैया करवाने के लिए मजबूर करें।

– रविंदर कौर

धारा 295-ए क्यों रद्द होनी चाहिए?

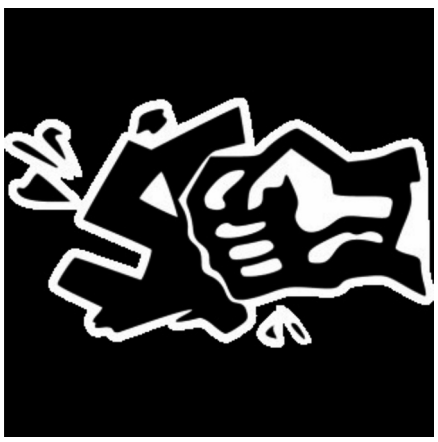

धारा 295-ए भारत के क़ानूनों की एक ग़ैर-जनवादी धारा है, जिसे ख़त्म किया जाना चाहिए। यह धारा धार्मिक भावना को ठेस पहुँचने को बहाना बनाकर जुबानबंदी करने का सरकारी हथियार है, जिसका इस समय भाजपा पूरी तरह ग़लत इस्तेमाल कर रही है। सिर्फ़ एक यही धारा नहीं है, बल्कि देशद्रोह (124-ए) और यू.ए.पी.ए. जैसी अन्य ऐसी कई धाराएँ हैं, जो नागरिक अधिकारों को ख़त्म करके हुकूमत के दमन का हथियार बनती हैं। भारत का संविधान अंग्रेज़ों के औपनिवेशिक संविधान की ही पैदाइश है। इसकी बहुत सारी दमनकारी धाराएँ अंग्रेज़ों वाली ही हैं, जो भारत की जनता का दमन करने के मक़सद के लिए बनाई गई थी। इसलिए ऐसी धाराओं को ख़त्म करना और नागरिकों के अधिकारों की गारंटी और हुकूमत के हाथों में बेहिसाब ताक़तें ना देने वाले क़ानून बनाने की माँग आज के समय में जनवादी अधिकारों की अहम माँग बनती है।

बीती 22 जनवरी को भाजपा द्वारा राम मंदिर के निर्माण के नाम पर जो सांप्रदायिक राजनीति की गई है, उसके बाद पंजाब सहित कई राज्यों में इस सांप्रदायिक राजनीति की आलोचना करने वालों पर धारा 295-ए के तहत केस दर्ज किए गए हैं और गिरफ़्तारियाँ की गई हैं। पंजाब में तर्कशील कार्यकर्ता सुरजीत सिंह दौधर और भुपिंदर फ़ौजी, बरनाला ज़िले के इक़बाल सिंह धनौला, बठिंडा ज़िले की शाइना आदि पर धारा 295 और 295-ए के तहत पर्चे दर्ज हुए हैं।

अयोध्या में राम मंदिर एक ऐसा मसला है, जो भाजपा और संघ परिवार की सांप्रदायिक राजनीति के तर्कश का अहम तीर है। 1992 में बाबरी मस्जिद को गिराने के बाद भी यह फ़ाशीवादी टोला राम मंदिर के नाम पर सांप्रदायिक ध्रुवीकरण करता रहा है। अब इस तमाशे को शिखर पर लेकर जाते हुए बीती 22 जनवरी को अयोध्या में राम मंदिर का उद्घाटन किया गया है। इसका उद्घाटन प्रधानमंत्री मोदी द्वारा किया गया और यह पूरा समागम धार्मिक नहीं बल्कि राजनीतिक था। यह 2024 के लोकसभा चुनावों को सांप्रदायिक क़तारबंदी द्वारा जीतने की तैयारी का उद्घाटन था। यह राम मंदिर का नहीं, बल्कि भारत में राम राज्य बनाने का सांकेतिक उद्घाटन था, जिसके द्वारा भाजपा हुकूमत ने यह संदेश देने की कोशिश है कि जिस तरह राम मंदिर के निर्माण का सपना भाजपा हुकूमत ने पूरा किया है, उसी तरह राम राज्य निर्माण का सपना भी यही हुकूमत पूरा करेगी।

इस राम मंदिर के निर्माण के लिए देश में जश्न का माहौल बनाया गया। हिंदुत्वी कट्टरपंथियों ने इसे हिंदुओं की धार्मिक श्रद्धा और ख़ुशी के समागम की जगह मुसलमानों पर हिंदुओं की जीत के जश्न के रूप में प्रचारित किया और कई जगह मुसलमानों के साथ टकराव खड़ा करने की कोशिश की। जब धार्मिक मसले को ऐसे सांप्रदायिक राजनीति का हिस्सा बनाया जाता है, तो समाज के सचेतन हिस्सों द्वारा इसका विरोध किया जाना ज़रूरी होता है। राम मंदिर के नाम पर हुई राजनीति की आलोचना करने वालों को चुप करवाने के लिए भाजपा 295-ए का इस्तेमाल कर रही है। धर्म जैसे संवेदनशील मसले पर आलोचना संजीदा और सृजनात्मक भाषा में

(पन्ना 7 पर जारी)

मालिक, प्रकाशक और मुद्रक रविंदर कौर द्वारा न्यू दशमेश प्रिंटर्ज, पता – 178-179, रणजीत नगर, जलंधर, पंजाब–144001 से मुद्रित और
उन्हीं द्वारा म.नं. 212, वी.पी.ओ. – पख्खोवाल, तहसील – रायकोट, ज़िला – लुधियाणा, पंजाब – 141108 से प्रकाशित। संपादक – लखविंदर सिंह